समय के बाद

क्षमा कौल

कश्मीर समस्या पर राजनीतिक चर्चा में उदासीनता कुछ इस तरह की होती है जैसे वह यूरोप के बोस्निया का मसला हो। उग्रवाद अपनी जड़ें अपनी जातीय अस्मिता में ढूंढता है और बहुमत को अल्पमत के विरुद्ध भड़काकर तेज़ी से लोकप्रिय होने का नुस्खा अपनाता है। विस्थापन की आशंका से कांपता अल्पमत मुश्किल से पनाह पाता है।

कश्मीर के पण्डित बहिरागत नहीं हैं। वे सदियों से वहीं रहते आए हैं। लेकिन उग्रवाद के मज़हबी जुनून के मारे वे विस्थापन शिविरों में जा पहुंचे। इन विस्थापितों का क्रोध, जब-तब समाचार माध्यमों से दिख जाता है लेकिन उनका आंतरिक विस्थापन नहीं दिखता।

क्षमा कौल की यह पुस्तक उसी आंतरिक विस्थापन के बारे में है। इसके कई आयाम हैं। एक नागरिक का विस्थापन, जिसे दो बच्चे संभालने हैं, अनजान शहर में रहने की ठौर ढूंढनी है, और तो और जीवन बचाये रखने के लिए अपने सात्विक क्रोध का भी शमन करना है, की यंत्रणाएं पाठकों को झकझोरेंगी।

विस्थापन एक स्त्री का भी है जिसके दाम्पत्य को कसौटी पर कसा जा रहा है, दूसरी तरफ स्त्री के रूप में उसकी अस्मिता पर बार-बार चोट की जा रही है। एक कवि जिसका अनुभव-संसार छूटा हो, उसकी विह्वलता यहां पारदर्शी है।

"हमारा यह संक्रमण मृत्युपर्यन्त बना रहेगा। यही काफिरी का सबसे बड़ा अज़ाब है।" यह बहुत बारीक और तीव्र अनुभूतियों वाले पर्यवेक्षण पर आधारित डायरी, आत्मकथ्य है। क्षमा कौल के गद्य में कविता-सी सघनता और गहराई है। पीड़ा है लेकिन पराजय नहीं है। चारों तरफ से घिरी होने के बावजूद उनकी मुद्रा 'न दैन्यम् न पलायनम्' वाली है जो आश्वस्त करता है कि नई स्त्री हमारे समाज में उभर चुकी है।

—अरुण प्रकाश

समय के बाद

(मेरी डायरी)

समय के बाद

(मेरी डायरी)

क्षमा कौल

अनिल प्रकाशन
2619-20, न्यू मार्किट, नई सड़क, दिल्ली-110006

आवरण चित्र : हिमा कौल का मूर्ति शिल्प

प्रकाशक : **अनिल प्रकाशन**
2619-20, न्यू मार्किट
नई सड़क, दिल्ली-110006

मुद्रक : शुभम् ऑफसेट
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

प्रथम संस्करण : 1996

मूल्य : **100.00**

विश्व के तमाम विस्थापितों को समर्पित

तल छुय ज़्युस तय प्यठ छुख नचान
वन्‌अ त्‌अ मालि मन किथ पचान छुय
सोरुय सोम्बरिथ अति छुय म्वचान
वन्‌अ त्‌अ मालि अन्न किण्यअ रोचान छुय
(ललद्यद)

नीचे खड्ड है ऊपर रहे हो नाच
कैसे मान रहा है मन ?
सब संग्रह कर कुछ न बचा
बोलो कैसे रुचता है अन्न ?

जगाना कुत्तों का
अखरता हमें
कहते ओ कुत्तो !
मरे तुम्हारा खाविंद ।

रोते हुए
विदा कर रहे थे कुत्ते

कहते
जहां रहो
रखे तुम्हें मालिक ज़िंदा ।।

– क्षमा

"कल पटना पहुँचूंगा। आज शाम को जा रहा हूँ। गाँव की ज़मीन बेच डालेंगे। तीन भाई तीन शहरों में विस्थापित हैं।"

सोचा कहूँ 'बंधु विस्थापित ?' बड़े भाग्यवान विस्थापित हो। गाँव जा सकते हो। वहाँ की ज़मीन में रम सकते हो, लोट सकते हो····सुगंध ले सकते हो····कुछ नहीं तो ज़मीन बेचकर इत्मीनान से सारे भारत से प्यार कर सकते हो।

हमारे प्रेम का ध्रुवतारा ही विलीन हो गया। सप्तर्षि मुझे कहाँ मिलते थे– रोज़ आंगन में बर्तन मांझते···फिर वे हंसते····फिर मेरे बर्तनों के लिए उतर कर नल खोलते····अंधेरे में मिलने आए प्रेमी जैसे। फिर तब तक मुझसे बतियाते जब तक मैं दरवाज़ा भिड़ाकर ऊपर न आती····वे भी सोते····हम भी····या हम सब।

अब किराए पर जो ज़मीन मिलती है····छत पर देखते हैं तो आसमान ढूंढे से नहीं मिलता। हम प्रेम कहाँ, किससे करें ? उस आसमान के नीचे मुझे कितना तीव्र बोध रहता था विराटता का····भारत-भूमि की विराटता का। लगता है उसने मुझसे रूठ कर वह छीन लिया····मैं उन तक सिमट गई····जैसे सोचा हो··तुम को इस बोध के लिए वापस लौटना ही होगा वरना कायर····तुम पर क्या विश्वास कि लौटती। इस मूल्यवान धरोहर के लिए लौटोगी····वे मेरी प्रतीक्षा····हंसते····कभी अनवरत धार रोते हुए कर रहे होंगे। ठीक उसी जगह····बरामदे और आंगन पर।

हवाएं आती हैं। बारिश आती है। वह टीन के छतों की टप-टप कहाँ सुनें। लाखों पियानो इन्द्र देव बजाता और झूमता। हम सराबोर हो जाते। हम इसी नुक्ते से सारे देश को प्रेम करना सीख गए थे····अथाह प्रेम····अनन्त प्रेम··जिसे देश भी न जानता था···प्रेम जैसे एक-एक व्यक्ति के अन्दर एक-एक प्रौढ़ चिनार···छाया का विस्तार तीन तरफ के सागरों तक···लहरों पर नाचता, सिद्धहस्त।

और हमें नींद में काट डाला उन्होंने। हम निश्चिंत थे– कानूनन–एक नीति के छत्र तले हमें मारना वर्जित कर दिया गया था। प्रेम, विश्वास का संवाद···सब एक-एक कर टूटे बेंत हो गए। अब पीटो हमें कहाँ पीटना है···किसे पीटना है···हमें तो यातना

होती नहीं।

स्मृतियां ? हां, हवा होकर अब वही बहती हैं। हवा हमें छूती है खूब। हम छुए सो कैसे ? हम अशरीरी…भटकती आत्माएं और ये हवाएं इतनी निर्दयी कि झोंकों के झोंके आए और भेद डाले हमें…कोई दया-माया नहीं। फिर भी बने रहने की धृष्टता है…भयानक धृष्टता।

प्रकृति ! प्रश्न का उत्तर किसी और तरीके से दे सकती थी…क्या यही एक तरीका बचा था ? पूर्वजन्म की स्मृतियों का प्रश्न। ये कुछ क्षण नहीं झेले जाते।

हम सब गहरी नींद से उठ कर आए हैं। बुजुर्गों की यह नींद और भी भयावह रही। बुजुर्ग भी हुए पर नींद ही में। तब तक नहीं जागे जब तक गर्दनें न कटीं…शोर न हुआ…शोर के ज़ोर से जागे…सिरहाने पड़े फिरन अपनी-अपनी कांख में दबाए भागे।

OO OO

खेत हैं। असीम खेत। जैसे पूरा का पूरा एक शहर खेत हो गया हो। पगडंडियां–जैसे 'पुश्ट(1)' में संवरे शहर-सुन्दरी के बाल। ऊपर…नीचे विचित्र ज्यामिति। पानी कहीं ज्यादा कहीं कम। समतल। जैसे पगडंडियों वाली झील। ढेर सारे छोटे-छोटे बेल-बूटे, पौधे, पानी के पौधे, और एक पौधा अद्‌भुत। अद्‌भुत वैभव। कहाँ सहेजूं। कहाँ सहेजा जाता है स्वप्न। अपने अंदर। लेकिन मैं चाहती हूँ यह स्वप्न हम सब देखें। एक-एक दृश्य वैसा ही जैसा मैंने देखा। तो फिर कागज़ पर उतारूं इसे ? नहीं…कैसे उतारूं इसे क़ागज़ पर ? शब्द स्क्रीन हो सकते हैं ? तो अगर हो भी सकते हैं…मैं उन पर अपना स्वप्न प्रस्तुत कर सकती हूँ ? असंख्य नन्हें पौधे हैं। मटरनुमा मुँह से एक अविरल धार बहा रहे…लयबद्ध…अब भी ये मेरे अंदर बह रहे हैं…मैं अब इनसे बहते रहने की मौन प्रार्थना करती रहूंगी…मैं अब लबालब हूँ। मेरे भीतर की निस्तब्धता में अगर कुछ है तो इस धार का संगीत…परिंदों की कूक, उनकी उड़ानों का वायुयानी संगीत।

"क्या होगा इस पौधे का नाम ?" मैंने उससे पूछा। मैं उसे पहचानती हूँ, पर नाम याद नहीं। 'फव्वारा' पूर्वजन्म का एक शब्द मेरे होंठों पर दना है…मैंने यह चीज़ देखी भी है। पर नहीं यह घिसा-पिटा नाम नहीं।

यह पौधा भविष्य का संकेत है कि फिर हमारा शहर एक विराट झील होगा। फिर खेत सजेंगे…जीवन अंकुराएगा…ऐसे कि मेरे अंदर से बाहर कूद पड़ेंगे ये फव्वारे…जड़ों से आलिंगनबद्ध करेंगे धरती को…जैसे बच्चा आलिंगनबद्ध करता है माँ को कि माँ कुछ और नहीं कर पाती। छुड़ाए नही छुड़ा पाती। अन्ततः शिथिल

पड़ के उसके आलिंगन को अणुशक्ति बना देती है। पूरी धरती सींचने की शक्ति होगी इनमें····जीवन वृक्ष उठाएंगे सिर धीरे-धीरे····फैलाएंगे अपनी भुजाएं और मुस्कुराएंगे अपनी छाया की भाषा में······

OO OO

डेरे से चल दी। सुनील शकधर ने अपना दुपहिया रोका। बातचीत की। परिचय से स्तब्ध रह गया। "मेरे पास ज़बर्दस्त कार्यक्रम हैं।" उसने अंग्रेज़ी में कहा । विस्थापित केन्द्रीय कर्मचारियों को घर दिलाएंगे····प्रधान मंत्री से मिल ही रहे हैं।

अंधकार। अंधकार। हम अंधकार में एक दूसरे को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। सूंघ कर, छू कर। हम एक दूसरे से वह रास्ता पूछ रहे हैं जो हमारे घर की तरफ जा रहा हो। सब बुत बन के रह जाते हैं– जीभ तालू से चिपकाए। अंधकार अब पूरे अस्तित्व पर छा गया है। घर कर गया है···· दीमक की तरह।

हम घर जाना चाहते हैं। सिर्फ़ घर। हमें जो तुम दिलाओगे वह घर होगा ? नहीं ! हम एक-दूसरे का हाथ ढूंढ-ढूंढ कर पकड़ना और घर चलना चाहते हैं।

लगता है जिसे वे 'आंदोलन' कहते हैं वह दियासिलाई की तरह तक् से जल फिर बुझ जाता है····अलाव कैसे जलाओगे ? अलाव तो तब जब दियासिलाई शुरू से आखिर तक जले। आखिर तंत्र बराबर लकड़ियों पर छिड़काव कर रहा है। आदमी लगे हैं काम पर।

जम्मू में चार मास से वेघरों को राहत नहीं मिली। केन्द्र सरकार कश्मीर की बाढ़ में मछलियां जितनी हो सके पकड़ कर दिल्ली लाना चाहती है और मुँह माँगे दाम वेचना चाहती है। कश्मीरी निष्कासितो ! तम के विरुद्ध अलाव जलाओ····तेज़·· तुन्द। अब हमें भी स्वतंत्रता चाहिए। हम हर तरफ से गोली खा रहे हैं। भारत सरकार हमें तिल-तिल कर मार रही है। आतंकवादी एक गोली के साथ मुक्ति भी तो देता है।

OO OO

पन्नदान के रोट लेकर भैय्या आए हैं। सब बीमार हो गए थे। भैय्या बेहद कमज़ोर हो गए थे। कलेजा फट-सा गया। जीवन कितने भयावह असमाधानों से चला रहे हैं····एक स्वप्न–एक रंगीन स्वप्न से जगे।

"देखा जम्मू के रोट खाकर मैं एकदम ठीक रही। यहाँ का तो खा ही नहीं सकी। जम्मू तो श्रीनगर का ही पानी आता होगा ?" माँ प्रफुल्ल थीं।

"हां····पहाड़ी झरनों का हल्का तो है ही।" हम जम्मू को सीने से लगाए बैठे हैं। एक-मात्र आशा और संभावना या वह तिनका जो सहारा होता है। जैसे सहसा डाकू आए और हमें निकाल कर घर में घुस गए। आँगन में डरे-सहमे हम घर के प्रवेश-द्वार के किसी भी हिस्से को शरीर से छूते हुए मन को तसल्लियां दे रहे हैं- लुटेरे जब भागेंगे- हम लपक कर घर में फिर घुसेंगे और अब के ऐसे घुसेंगे- बाहोश कि फिर कभी नहीं आएंगे लुटेरे।

रसूल हमज़ातोव की पुस्तक का वह प्रसंग माँ को सुनाया–उसके पिता बेहद बीमार थे। कोई फर्क नहीं पड़ता किसी भी दवाई से। अंततः विदेश से जिस दिन दवाइयां आईं उसी दिन त्सादा हमज़ात ने अपने बेटे से दागिस्तान का पानी लाने को कहा। दोनों साथ-साथ लिए। हमज़ात स्वस्थ हुए और कहने लगे- "दागिस्तान के पानी से ठीक हो गया हूँ।" जम्मू के रोट तुमने दोपहर बाद खाए और दवाई ठीक दोपहर को। माँ मुस्कुराई।

OO OO

माँ के विषय में दुःस्वप्न देखा। मरीना त्स्वेतायेवा की चिट्ठियां पढ़ रही हूँ। हर अंग धड़क रहा है। भय से, अनिश्चितता से, पीड़ा से, कविता से, कविता के प्रवाह से····फट रहा है हृदय।

अख़बार में एक अच्छा लेख देखा आज। कुछ पंक्तियों में हमारा भी ज़िक्र था। कहीं विस्थापित, कहीं शरणार्थी कहा गया था। पर सरकारी भाषा में हम हवा-खोरी करने आए हैं या हवा-बदली। समझ में नहीं आता कहां आए हैं हम ? कौन हैं हम ?

OO OO

वह कौरिडोर में खड़े थे। हम जब लिफ्ट से निकले, जैसे तिलस्मी दुनिया हो। मैंने उन्हें झुककर सम्मान दिया और उन्होंने आशीष का हाथ बढ़ाया।

"हम आपके दर्शनों के लिए तरस गए थे" वांचू बोला। उनके मुख पर खुशियां एकत्रित दिख गईं। हम दोनों के ऐन सामने वह बैठ गए।

"तुम्हारा पत्र मिला था।" मुझे यह प्राप्ति-सूचना अच्छी लगी। मेरी आँखों में शब्द ठहर गए····।

"आप सूर्य थे····अब अंधकार गहरा है।" सचमुच अंधकार गहरा है और यह जो सूर्य है, अब दक्षिणायन में है। वह आदमी कश्मीर में रह रहों की खूब मदद करता है। करे, पर हम से साफ कहता है "मुझे आपसे कोई सहानुभूति नहीं।" वह तो स्वयं पाकिस्तानी निष्कासित है। सुना है आरम्भ में इसने रेलवे स्टेशन पर चाय

तक बेची थी··· मानवीय पीड़ाओं का तीव्र-बोध जितना इस आदमी में हो सकता था··· ख़ैर ।

''पाकिस्तान से जितने भी इस शहर में आए, घर-बार के साथ मन-संवेदन, संस्कृति सब वहीं छोड़ आए । अब ये लोग संपत्तिवान हैं किन्तु संस्कृतिवान नहीं । अब पैसा ही इनकी मनुष्यता है, संस्कृति है, मातृभूमि है । यह आदमी उसी बिरादरी का तो है ।

मैंने कुछ वर्ष पूर्व कामू का उपन्यास पढ़ा था । ताऊन फैलने पर कैसे सांसारिक मनमुटाव, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध जैसे दुर्भावों का मानवीय जाति से अन्त ही हो जाता है । जितनी ही मौतें होती हैं उतना ही जीवित एवं जीवन के प्रति प्रेम घना होता है । पर मैंने अपनी जाति में ऐसा कुछ न पाया । भयावह निराशा । आत्ममुग्धों की एक अच्छी-खासी भीड़ । जिन दिनों निष्कासन चरम् पर था एक भारी-सी शरणार्थी भीड़ में एक अफसरशाह टाइप का दिल्ली निवासी बोला था–'एवरी बट्टा इज़ एन इंटैलैक्चुअल ।' काश ! एवरी बटा पहले एक अच्छा मनुष्य होता इस घड़ी ।

''हां, मैंने एक फिल्म देखी थी । रेल अनियंत्रित है । यह तय है कि रेल में जो है, कुछ ही क्षणों में समाप्त होने वाला है । एक-एक कम्पार्टमैंट का सीन अलग-अलग है । कोई व्यक्ति किसी का कत्ल करने वाला है, तो हृदय परिवर्तन होता है । संकल्प करता है कि जीवन रहा तो जीवन को मोड़ लेगा । एक पति-पत्नी में आगामी क्षणों में तलाक होने जा रहा है । प्रेम नए सिरे से खिलता है फूल-सा । संकल्प करते हैं कि जीवन रहा तो जीवन-भर साथ रहेंगे । एक भ्रष्ट राजनेता सच्चा जन सेवक बनने का संकल्प करता है । रेल आखिरकार काबू में आती है पर ये क्षण मनुष्य के पथभ्रष्ट मन-विवेक को पथ दिखाने में प्रकाश-स्तंभ हैं । हम ऐसे क्षणों से गुज़रे पर कोई छाप न पड़ी । वैसे ही निकले बेदाग कोरे के कोरे । आत्मकेन्द्रित, घमंड़ी, आत्मश्लाघा में धुत । ''हमारी जाति में आया कोई नवचिंतन ? ''नहीं-नहीं आया ।''

डेढ़ घंटा बीत गया । उन्हें बैंगलोर जाना है । हम बाहर आए । अंधेरा चमक रहा था । सूरज की एक किरन भी नहीं पड़ रही थी इन पाँच-तारा लोगों पर । हम मुख्यद्वार से बाहर आए और सूरज की किरणों से लिपट गए···मानो बरसों बाद देखी हों ।

''चाय पियें ?''

''मैं मौन । कुछ समय बाद यानी चाय की दुकान के सामने पहुँचने पर कहा- ''पैसे हैं··· ?'' दरअस्ल मेरे पास सिर्फ एक रुपया था जो घर पहुँचाने के लिए भी नाकाफी था । मैं उस एक रुपये का हिसाब आधा सफर इत्मीनान से पैदल तय करने, जहाँ से

एक रुपया लगेगा वहाँ से बस में बैठने के साथ लगा रही थी। पर कुछ समय और बिताने के लिए चाहती थी कि यहाँ फुटपाथ पर बैठ कर कुछ चुस्कियां ली जाएं····यह यातना पर्व····क्षण-क्षण····मिनट-मिनट····घंटा-घंटा····दिन-दिन और वर्ष-वर्ष न जाने कहाँ तक जीते चले जाना है। कुछ क्षण यहाँ फुटपाथ पर चाय पीते हुए····तुम्हारे साथ भी····।

उसे मेरे पैसों की बात बुरी लगी थी। नाराज़ नज़रों से मुझे देखा।

"पिलाओ····नाराज़ क्यों होते हो। मुझे हर कोई अपने जैसा ही लगता है।" मैं मन में सोच रही थी कि संसार की आधी से ज़्यादा चाय क्षण बिताने के लिए ही पी जाती होगी. चाय पीने के लिए नहीं।

OO OO

दुःख पर रोने वालों से घृणा करने वाली माँ रो रही है। मेरी सांस मानो रुक गई। लड़खड़ा रही है–मेरी जीभ। इन गलियों में मैं वापसी पर पागलों की तरह दौड़ती हूँ कि घर जल्दी से जल्दी पहुँचूं। इन कुछ क्षणों दिल तेज़ धड़कता है तब कुछ गड्ड-मड्ड मंत्र पढ़ती रहती हूँ कि मुझे माता-पिता हंसते हुए मिलें। तो क्या आज मैं ज़रा भी मंत्र न पढ़ सकी ?···· क्यों प्रभु ? क्या बात ? मैं तुम्हें सौंपकर यह नाज़ुक निराश्रित परिवार मज़दूरी पर चली जाती हूँ। क्या फूट गई है तुम्हारी आँख। फोड़ रहा है तू हमें बराबर ढीठ, न टूटने का संकल्प किए पत्थर की तरह। आज क्या मैंने नहीं की तुम्हारी खुशामद ?

"–क्या बात है माँ ?" मैंने फिर लड़खड़ाई आवाज़ में कहा बच्चे खेल रहे थे। मैं समझ नहीं पा रही थी कि क्या समस्या हो सकती है।

"····क्यों रो रही हो माँ ? मकान मालिक ने···· ?" और वह फिर फूट-फूट कर रो पड़ी। बच्ची हो गई है अब यह दृढ़-धीर स्त्री। पूरी बच्ची। सारी प्रौढ़ता में, सारे अनुभवों में, पूरे गरिमामय जीवन में सेंध लगाई है इस एक ज़लील से अनुभव ने। निर्वासन ने।

"–कहा कि पाखाने में पानी नहीं डालते हो तुम लोग।"

मैं समझ गई। सब समझ गई। बच्चों और बूढ़ों के बीच अवलम्ब बनी मैं अकेली औरत। मुझ पर मकान-मालिक कोई भी गुस्सा निकाल सकता है।

"–कोई बात नहीं माँ शांत हो जाओ। हम कमरा बदल लेंगे।"

माँ बराबर रो रही है। उसके आंसुओं से बन रहे भंवर से मैं बराबर उलझ रही हूँ। मेरे बच्चों की परवरिश में नाहक फंसी माँ कितना मुझे भी कोस रही होगी।

"माँ शांत हो जाओ। मैं अभी कमरा देख लूंगी।"

मकान-मालिक माँ को बुढ़िया-बुढ़िया कहता हुआ आया।

"मैं आपका कमरा खाली करूंगी। मैं आपसे बात नहीं करना चाहती। आप मुझे क्षमा करें।"

वह तिलमिला उठा। इस बीच पापा प्रकट हुए। मैं इस अजीबो-गरीब दुःख के क्षण की नंगई ओढ़ने के लिए एक स्थाई मुस्कान चेहरे पर रखे हुए हूँ।

वह बोलते-बोलते थक जाता है और बाकी बोलने के लिए अपने कमरे में जाता है-"हुंह····आप इसी के लायक थे····यूं ही ईश्वर ने बेघर नहीं किया····" बहन···· कश्मीरी। जानते भी नहीं मकान-मालिक से किस तरह बात करते हैं। पर हम सब मौन हैं। बीच-बीच में मुझे लगता है कि माँ-पापा कुछ प्रतिक्रिया करना चाहते हैं पर मेरी प्रार्थना की मजबूरी में उनका मौन बना रहता है।

मैं गलियों में घूम रही हूँ। दोनों बच्चों की उंगली पकड़े। रास्ते में जिस-तिस से पूछ रही हूँ खाली कमरे के लिए। अंधेरे कमरे। नथुने जितने कमरे। किराया पौने दो हज़ार। मेरी रग-रग में दर्द उठता है। कराहें भी दब जाती हैं इन्हीं किन्हीं गुफाओं में। ऐसे कई कमरे देख आई हूँ चुपचाप।

"इसने कुछ कहा तो नहीं फिर ?" मैं सहमते हुए दहलीज पर स्थिर हो माँ का चेहरा पढ़ते हुए उससे पूछ रही हूँ।

"नहीं कुछ नहीं···· घबराओ नहीं बेटी।" मुझे जीवन-सा मिला। माँ कुछ-कुछ प्रौढ़ फिर हो गई है शायद। हम क्षण जीवी हैं।

ऋजु की सांस फिर तेज़ है। फिर एस्नोफलिया। दो माह कितने अच्छे बीते थे····वह स्वस्थ था। क्या करना चाहिए मुझे। मैं कैसे भंवर में हूँ। कल दोनों की परीक्षा है। पर क्या करूं मैं ? मेरा मस्तिष्क ठीक ही नहीं।

सब सो गए हैं। बच्चे गहरी नींद में हैं। पापा भी। माँ सोई नहीं-आँख मुंदी है सिर्फ।

क्या समाधान है इस सबका ? है कोई ? सिवाय सामना करने के।

–तो यह है हिन्दुस्तान। अपना भारत। सपनों का भारत। चलो देख तो लिया तुम्हें। बिना लहू के लोग। इनकी रगों में भी पैसा ही बहता है।

–भारत ! तुम्हारी भी वही स्थिति है जो मेरी। मेरी जाति की। तुम भी डोल रहे हो। तुमने नाकारा संतानें जन्मीं हैं। मैं दावे से कह सकती हूँ।

–मुझे अंधेरे में आभास हो रहा है कि माँ अंधेरे में सिरहाना भिगो रही है। मेरा मन गाता है–"ऐ मेरे वतन के लोगों, मत खून को कर लो पानी !" क्या-क्या

याद आता है । हम सोचा करते थे हमारा साथ कोई नहीं छोड़ेगा⋯हम लाडली संतानें हैं छोटी माँ की । छोटी माँ के बच्चों के साथ कोई जुल्म होगा बड़ी माँ के बच्चे खून खराबा करेंगे । सारा हिन्दुस्तान लहूलुहान हो जाएगा । पर बड़ी माँ के बच्चों के कान पर जूं तक न रेंगी । उल्टे उनके खाली कमरे हमारा खून बहने के नल हो गए ।

OO OO

मैं बच्चों को दुलराते हुए जगा रही हूँ । चूल्हे पर चाय का पानी और दूध चढ़ाया है । ठुमरी को गोद में लेकर उसे प्यार कर रही हूँ ।

वह दैत्य झांक रहा है । खड़ा है । प्रतीक्षा कर रहा है कि कब मेरी नज़र उस पर पड़े ।

मैं चौंक जाती हूँ ।

"आप लोग बिजली नहीं जला सकते ।" उसे हमारा बचा-खुचा आत्म-सम्मान भी काट खा रहा है ।

"–कोई बात नहीं मोमबत्ती जलाएंगे ।" न जाने फिर क्या-क्या बकते हुए वह गलियारे से गुज़र गया ।

मेरा दिमाग फिर झनझना उठा । माँ मंदिर गई । पापा कंधे पर तौलिया डालकर न जाने किस सरकारी नल पर नहाने गए हैं । ताकि वह उसे वहाँ न देखें । कैसा आतंक है ?

मैं फिर गली में निकल आई । मैं इस तरह गली में निरुद्देश्य क्यों निकल आई ? क्या करना है मुझे ? कहाँ जाना है मुझे ? मैं यों ही एक व्यक्ति से पूछती हूँ– "भाई साहब ! कमरा खाली है कोई ?"

"–कमरा ?"

"–मैंने सिर हिलाया । मैं भीतर-भीतर तक निस्सहाय हूँ ।"

"–कितने लोग हैं आप ?"

"–मुझे लगा एक दैत्य से छुटकारा पाने के लिए मैं दूसरे दैत्य का आश्रय लेना चाहती हूँ ।"

"–आप क्या करती हैं ?"

"–यह संस्थान सरकारी है ?"

"–कितना वेतन है ?"

मुझे वह दैत्य इस दैत्य से बेहतर लग रहा है । नदी से नदी ठंडी । कहीं कोई गर्माहट नहीं । देखो कहाँ-कहाँ ये लोग नाहक घुसपैठ करते हैं । इनकी योग्यता क्या है ? सोचा उसे कुछ कहूं । पर शब्दों को बचाना धर्म बन गया है । विश्वास करने

पर से विश्वास उठ गया है। क्या मिलेगा इसे कुछ भी कहने से। ये लोग कहते हैं–'रोना रोते हैं।' अखबार तक ऐसा लिखने लगे हैं। मैं इसके मकान में रहने आऊंगी या नहीं; इसके निरीह शब्दों की कड़ुवाहट से मुझे गुज़रना ही है। जब वह मुझे कमरा दिखाने के लिए उठा तो मुझे देखने में अरुचि-सी हुई। कमरा ? यह हमारे यहाँ दड़बा कहलाता है। फिर भी मैं उसे कमरे का सम्मान देते हुए ही देख रही हूँ। काली-कलूटी छत। टूटी सलेबें। सड़क जैसा फर्श। जगह इतनी कि हमारे घर का स्नान-घर हो।

वह दरवाज़े से सटकर-खड़ा होकर बोला–

"–आप माँस, मछली, प्याज़ सब कुछ खा लेते हैं। आप कश्मीरी हैं ?"

"–जी····।" यकायक मुझसे कुछ कहते नहीं बना।

"–किराया ?"

"–दस सौ पचास।"

–यह क्या सुना मैंने ? जो सुना ठीक ही सुना मैंने। दस सौ पचास। यानी विस्थापन। यानी देश-निकाला। अपने ही देश में निर्वासन। यानी वे सब बेहतर थे जो उनकी गोलियों से ढेर हुए। वे भाग्यवान थे जिस धरती में उगे वहीं विलीन हुए। हमें सींचती हैं वहाँ जाने की आशाएं। हमें मारती हैं वहाँ न जा पाने या वहाँ जाने तक जीवित न रह पाने की आशंकाएं। बेहतर थे तुम मेरे मृत बंधुओ। मुझे तुमसे ईर्ष्या हो रही है। कृपा थी तुम पर उन नकाबपोशों की। तुम यों ही उनकी फेहरिस्त में नहीं थे। नहीं समझ पाए हम अपनी धरती पर ढेर होने का सुख शहीदो। कहते थे यह धरती भी हमारी है। आत्महास्य से छलक गए हैं हम। हास्य जो रोने का विरूपतम रूप है मेरे प्रभामंडित हम वतनो। हमारी प्रभा सशरीरी होकर भी छिन गई। छीनी गई।

फिर गलियों के एक चौराहे पर हूँ मैं। सोचते हुए कहाँ जाऊं। कहाँ मिलेगा बसेरा ? जहाँ बच्चे सोयें, उनके लिए दूध उबले और घर-वापसी तक समय बीते। पर कहाँ ? मैं फिर निरुद्देश्य-सी घूम रही हूँ। एक दुकानदार से पूछती हूँ–"कोई कमरा होगा पास में ?" उसने उंगली के इशारे से एक दरवाज़ा दिखाया। मैं लपकने लगी कि सारिका और राजेश दिखाई दिए। मुझे मानो नींद में चलते हुए होश आया। ऋजु की परीक्षा का आज प्रथम दिन है। चूल्हे पर चढ़ाया दूध तहस-नहस हुआ होगा। पानी सूख गया होगा। इस तरह बच्चों को छोड़कर मैं क्यों निकल आई गलियों में। कहीं उसने बच्चों के साथ कोई हरकत की···?

मैं किस मनुष्य की ढूंढ में हूँ ? मनुष्यों के इस जंगल में मनुष्य कहाँ ? घरों

के इस वियाबान में घर कहाँ ? मातृभूमि ? हुंह मातृभूमि भारत ? धत् तेरे की···

मैं लौट रही हूँ। भयंकर ऊबड़-खाबड़ में कदम डालते हुए। मन के, जीवन के ऊबड़-खाबड़। दूध बहुत सारा चूल्हे में गिर कर जल भी चुका था। चूल्हा जल रहा था मन की तरह–अनवरत। बच्चे सहमे-दुबके सोच रहे थे कि मैं कहाँ चली गई।

○○ ○○

छोटे से शालिग्राम को थाली में रखा माँ ने। फिर फूलों की बरसात की। जहाँ-तहाँ के शिव भजन गाए हमने। भागने से पूर्व शिव रात्रि वहीं मनाई थी। खींच-खांच कर वे दिन निकाल ही लिए थे। मस्जिद में छोकरे जिहाद चला रहे थे सो भाई ने भी पूजा का टेपरिकार्डर तेज़ आवाज़ में बजाया। आश्चर्य है कैसे निकल आए हम तब भी जीवित। पार्वती को मैंने ही विदा किया था, घास और विल्व-पत्रों की नौका पर। जलता हुआ दीप प्रसन्न-मुद्रा में वितस्ता में उतरा···मैंने चाकू से खे लिया, अखरोट और चावल के आटे की रोटी के लुकमों का भोग अर्पण किया। डरती रही···दीप न बुझे। दीप जलता रहा। मध्य-वितस्ता को प्रज्वलित करता हुआ बढ़ता रहा··· मदमस्त। किसी भी अंधकार से बेखबर। रह रहकर देखती रही दीप को। मुड-मुडकर। वह जल रहा था···प्रखर···मन के उल्लास का कोई ठिकाना नहीं। घाट पर कोई न था। एक बंधु डरता हुआ आया। हड़बड़ी में गागर धोई। भागा। दुम-दबाकर। मुझे देख हौसला तो बंधा उसका। मेरा उसे देख बंधा था। पर वह देख ही नहीं रहा था आँखें खोल कर। खुली आँखों देखने की उसमें हिम्मत ही नहीं थी। क्या पता ज्यादा आँखें खोली तो किसी गोली को ही निमंत्रण मिले। मैंने सोचा उसने कोई जोखिम नहीं उठाया। कोई दीप नहीं जलाया।····कोई प्रश्न नहीं पूछा वितस्ता से·····सो चोर सा भागा। मैं भी लौट आई गहन होती संध्या में दीप का प्रकाश, वितस्ता के हृदय से प्रतिबिम्बित उल्लास और यह सुन्दर उत्तर हृदय में बटोर कर। इसकी पुष्टि के लिए कदम स्वतः पुल तक पहुंचे। दीप जल रहा था तेज़···वितस्ता के मन में। अरे कोई फिक्र नहीं···सब ठीक है। सब ठीक होगा···अंधेरा नहीं रहेगा····। हमारे होने का दीप नहीं बुझ सकता–आंधी के बवण्डर में भी नहीं।

देख रही हूँ····घरों के दरवाज़ों पर ताले···ताले···ताले···चुप्पियां सनसनाहटें··· फुसफुसाहटें···काले नकाब। मन की वितस्ता में दीप है अविचल। कोई फिक्र की बात नहीं। भाई मुझे देखकर ही पूछ उठता है–तो क्या करें ? कुछ तय करो बहन। उनके हमें खत्म करने के विविध कार्यक्रम हैं···वह तफसील बता रहा

है। उसे कुछ सूत्रों से पता चला है····मैं कांप रही हूँ। "···· बस करो भैया हाथ में उठाने लायक सामान बांधो····सुबह-सवेरे चलेंगे।"

वितस्ता में दीप है। शालिग्राम तुझे कहाँ रखें। बने रहो थाली में····जब तक घर न जाएं वापस।

लगभग सभी जम्मू गए थे हेरथ मनाने। मैं माँ के संरक्षण में बच्चों के साथ यहाँ अकेली कमज़ोर पड़े शिव के सामने ढेर सारी स्मृतियों को गुनगुनी धूप और दीप के प्रकाश में खोलती रही। न कहीं वटुक महाराज थे, न कहीं विवाह-मण्डप। कभी-कभी वितस्ता आँखों से उफनने को आतुर होती रही।

OO OO

बच्चे बिस्तर पर उछल-कूद कर रहे हैं। लड़ रहे चूहों का तमाशा देख रहे हैं। ऋजु होंठों पर उंगली रखकर मुझसे मौन रहने की प्रार्थना करता है ताकि वह एक चूहे को पकड़ सके। ठुमरी उसकी सहायता कर रही है। जब वह हाथ बढ़ाता है, चूहा ऊपरी ताक पर पहुँच चुका होता है।

बड़ा चालाक है। वह कहता है। मैं हंसती हूँ और बत्ती बुझाती हूँ। दोनों चूहों की-सी फुर्ती से लिहाफ में आते हैं।

मैं उनके बीच में हूँ। हाथ पसार कर 'वेला विदा की' खोज रही हूँ। पुस्तक नहीं मिल रही।

"क्या ढूंढ रही हो मम्मी ?" वह पूछता है।

"बेटा वह किताब जो मैं पढ़ रही थी।"

ठुमरी भी उठकर बड़ों की तरह सोचने लगी कि वह मेरी मदद कैसे करे ? कहाँ ढूंढे वह ? ढूंढने का वही एक मात्र कोना है। मैं बार-बार निचली तह में रखे अखबारों में हाथ चलाने लगी। शायद फट्टे से गिर गई हो। कोई मोटी चीज़ हाथ से टकरा जाए।

"मम्मी उसमें क्या लिखा है ?" ऋजु पूछता है।

"बेटा एक देश है बल्गारिया वहाँ आतंकवादियों ने क्या किया-यही लिखा है ?" "ममा हमें तो पता है क्या किया होगा। उसी तरह पागल हो गए होंगे जैसे कश्मीर में उस रात। मैं बिस्तर में कैसे दुबक गया था। रितु चिल्लाने लगी–थी 'ममा लोग पागल हो गए। लोग पागल हो गए। 'क्यों हो गए थे लोग पागल।" "हो गए बेटा क्या करें।" मैं बराबर पुस्तक की खोज में हूँ।

"छू···· मंतर। यह लो ममी।" उसने बक्से के पीछे गिरी किताब को नन्हें से हाथों से बाहर निकाला। मैंने उसे बार-बार हृदय से लगाया।

ठुमरी ने पुस्तक हाथ में ली और अन्तोन दोनचेव को निर्निमेष देखती रही। न जाने उसकी नन्ही बुद्धि में क्या प्रश्न रहे होंगे....जो उसने मुझसे किए नहीं। स्वयं ही उत्तर ढूंढे होंगे। अगले क्षण वह अन्तोन दोनचेव के चित्र को बार-बार चूमती गई, हृदय से लगाती गई; हौले से बोली–"ऋजु यह शेखर पापा हैं। हैं न ?" मैं चकित हूँ। उस तूफान को महसूस कर रही हूँ जो इस आकार में छोटी, नन्ही सी ज़ान में बसा है।

लौट आई इस वादी में जहाँ कराईब्राहम जिहाद में गुलाम काफिर का कत्ल करते हुए इस तरह आगे बढ़ा मानो सन्नाटा तोड़ने के लिए चने का दाना दो दांतों के बीच रख दिया हो....पूरी सहजता से।

OO OO

यह क्या हो रहा है ? मीडिया के ज़रिए जो कुछ सोच कर दिया जा रहा है– कहते हैं सच। बीच में अनावश्यक बेल की तरह एक आदमी ऐसा उग रहा है जो कहता है झूठ या गलत। बिल्कुल गलत या अर्द्धसत्य। जो हमें सोच कर दिया जा रहा है उस माल को रिजेक्ट मत करो। मार्ग-दर्शन के स्वयंभू ठेकेदारों के इस तरह का अंधकार फैलाने के लिए हाथ काटो। ज़ुबान छीनो उनकी उनसे। कृपया उन्हें पहचानो। पर देश का रोटी खाता आदमी पैसों में लगा है और भूखा आदमी रोटी में। अंधकार में मज़ा आ रहा है।

बनी-बनाई डबलरोटी की तरह सोचे गए, सुनियोजित, कल्पित सत्य और तद्जन्य विचार दे रहे हैं अखबार। फुर्सत के अभाव में खरीद रहे हैं लोग। विवेक के अभाव में मान रहे हैं।

एक पत्रकार महोदय आजकल कश्मीर में तोड़े गए मंदिरों को न तोड़े गए सिद्ध करने के लिए अखबार के पृष्ठों के पृष्ठ खपा रहे हैं। उनके झूठ की काट में कितने पत्र लिखे गए मय-प्रमाण पर मजाल कि एक भी छापे। "हम कहते हैं आँखन देखी....वे भी लिखते हैं मन की सोची।" कितने आतंकों से लड़ें। ठीक है माई-बाप। तुम जीते, हम हारे। हमने जो देखा, भोगा–झूठ। तुमने जो कल्पना की–सत्य।' कहीं कुछ न टूटा....कहीं कुछ न हुआ।

-1990 की मार्च में एक विशाल रैली बहादुर शाह ज़फर मार्ग से जब गुज़री थी तो एक अधेड़ पढ़ी-लिखी महिला रुक कर ज़ोर-ज़ोर से चीखी थी– "अखबारों के संपादकों। होश में आओ। होश में आओ।" मैं हंस दी थी। क्या किया संपादकों बेचारों ने। कोई भविष्य-दृष्टा थी वह। उसे पता था इसी मार्ग पर बैठे संपादकगिरी करते ये लोग बेहोश हो जाएंगे। झूठ की स्याही से रोज़ बढ़-चढ़ कर अर्थों को अपमानित

और सत्य को सुत्र कर देंगे। मैं उसे मन की आँखों से खोज रही हूँ····प्रणाम भेज रही हूँ। कौन थी वह ? कहीं माँ कश्मीर ही मूर्तिमंत होकर इस निरंकुश झूठ की तीव्रता में ही तो नहीं चीखी थी।

OO OO

क्या-क्या सोचती जा रही हूँ मैं। इस अंधेरे घुटन-भरे किचन में। कि होगा प्रकाश। प्रकाश से भरा होगा घर। एक घर। फिर से घर ? फालतू घास की तरह कटे हमारे सपने फिर उग रहे हैं जैसे। क्या सपने जंगली घास होते हैं जो उग-ही आते हैं। लाख रौंदते चलो। लाख मत सींचो उन्हें ? फिर भी ? कितनी ही मरु हो चले भूमि। सपने उगते हैं। जंगल-दर-जंगल। स्वतः वर्षा होती है····स्वतः उर्वरा होती है भूमि। समय के घुमाव के साथ। चिंताओं, अभावों, तनावों के ताप से पता नहीं हमारे अंदर किन समंदरों से उठते हैं वाष्प। बनते हैं पूरा मानसून और धड़ल्ले से बरस कर हरे-भरे हो जाते हैं सपनों के वन। ये जो सपनों के जंगल उगे हैं मुझमें ऐसे ही होंगे हम सब में। मैं घबरा रही हूँ इनमें पड़ने से। मैं नहीं जानती इनकी धरती क्या है। मैं यहाँ रास्ता भूलूंगी। यह धरती कौन है ? क्या है इसका मौसम ? यह चीन्हने की शक्ति नहीं है मुझमें। देखो मैं ढूंढूं एक चिनार। एक बड़ा सा चिनार। चिनार है मेरा घर।

OO OO

सब कुछ जैसे आग उगल रहा है। बावजूद इसके लोग भौतिक जुगाड़ों में मस्त हैं, ठण्डे हैं।

बस की खिड़की से सिर बाहर निकाल कर आसमान को देखा। देखना चाहती थी क्या सूर्य बादलों की महीन परत ओढ़े है। आसमान नीला था। अगर यह ताप क्षण-भर भुला दो तो मान लो अपनी छत के ऊपर वसंताकाश है। पर कैसे ? है तो निदाघ। मेघों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े थे बहुत-बहुत दूरी पर। एकाकी थे सब अपने-अपने स्थान पर। एक दूसरे से ज़बर्दस्त विरोध करते हुए। समन्वय की किसी भी गुंजाइश से इन्कार करते हुए। एक जगह होते तो ताप को घेर सकते थे····या और बादलों की सेना का आह्वान कर सकते थे····इस झुलस को कम कर सकते थे। मुझे लगता है ये हमारे नेता हैं। एक अर्से से सब चुप हैं। जैसे सब समस्याएं हल हो गई हैं। लो मैं भी कैसी मूर्ख हूँ। उन्हें समस्याओं से क्या लेना देना। समस्याएं बनी रहें--कच्चे माल की तरह। स्रोतों की तरह। उन्हें तो माने जाने की रणभूमि में एक दूसरे के सर कलम करने हैं। फिर भी।"

इस आग के बुझने की फिलहाल कोई संभावना नहीं। फिलहाल कोई परिवर्तन

नहीं दिख रहा संभावित । सोचा बगल वाली सवारी सोच रही होगी कि मैं इस कदर पागलों की तरह क्यों देख रही हूँ आसमान की तरफ । याद आया भरसक कि पिछले वर्ष सुना था कि लोगों ने जुलूस निकाला था "बट्अ अन्यूख वापस-बट्अ ददि तापस ।" (बट्टों पण्डितों को लाओ वापस, बट्ट जल गए ताप से) । मेरे अंदर जुलूस आगे बढ़ रहा है । यहाँ तक कि दिल्ली की सरहद पर है । मैं उनकी करुणा के प्रति प्रेम-विगलित हूँ । मैं भी गला फाड़ रही हूँ····मैं किससे सम्बोधित हूँ– आसमान से ? वितस्ता से ? वहाँ की बहुसंख्या से ? उस धरती से ? या कि यहाँ की सरकार से ?

OO OO

इन निदाघ के दिनों में असह्य हो रहा है एक-एक क्षण काटना । इस महानगर में अब बिजली नहीं होती, न ही पानी । दस वर्ष पूर्व जब यहाँ आए थे तो देखा था दिल्ली में बिजली गुल ही नहीं होती कभी । आज वही दिल्ली ? देखो । ऐसा क्यों हुआ ?

"जगह-जगह के शरणार्थियों ने गंद मचाया ।" सीता कहती है ।

"मसलन ?"

"मसलन–पंजाब, आसाम, बांग्लादेशी और कश्मीरी···· और भी····।"

"नहीं वे थोड़े लोग हैं–क्या फर्क पड़ता है उनसे–।" शशि मेरे दिल की ठेस को रत्ती भर कम करना चाहती है ।

वास्तव में सीता कहना चाहती है 'कश्मीरी', बल्कि कहना ही वही चाहती है ।

'दिल्ली इस देश का सबसे बड़ा शरणार्थी शिविर है । या संसार का भी····और मैं कल्पना करती हूँ कहीं कोई घर नहीं है····महज़ लोग फैले हुए हैं, शरणार्थियों की तरह····इसी क्रम में मैं भी इस शरणदायिनी बड़ी सी धरती पर सिकुड़ी पड़ी हूँ– बच्चों के साथ ।

OO OO

मुहम्मद यूसुफ जोशो-खरोश में था । मेरे तबादले का ज़िक्र छेड़ा । पता नहीं मैं रूखी क्यों हो उठी हूँ । फिर वहाँ का ज़िक्र छेड़ा । वह दर्शाना चाहता था कि अंततः विजय उनकी है ।

हम मंत्री से मिले । दो घंटे बातचीत हुई । खूब खातिरदारी की मंत्री ने ।

तो वह जताना चाहता था कि वे भारत-विरोधी होकर भी भारत के लिए अतिविशिष्ट व्यक्ति हैं– विरोध के ही कारण– या धर्म के कारण । हम भारत-प्रेमी होकर भी भारत के लिए अति-नगण्य हैं– प्रेम के कारण– या धर्म के कारण । अस्तु– देखो

क्यों अपनी ऊर्जा नष्ट कर रहे हो– जानकर भी कि हम इसकी इजाज़त नहीं देंगे।

–सरकार से जो हम चाहते हैं उसके लिए वह तुमसे इजाज़त माँगे ही क्यों ? किस कारण ? उसने विजय की तर्ज़ पर भृकुटियां नचाई। "–यही राजनीति है।"

"–हाँ, पर अब सब कुछ बदल रहा है यूसुफ। जल्द बदल रहा है...... देखो आज का अखबार देखा ?"

"–हाँ....नुसरत जान की भाभी आयशा...."

"–आयशा नुसरत की भाभी ?"

"हाँ....हाँ....और क्या।"

"उसका वही भाई जो कैजुअल ऑपरेटर था हमारे यहाँ ?"

"हाँ....हाँ... वह बीच में गायब था। पाकिस्तान गया था। ट्रेनिंग के दौरान आयशा से निकाह कर लिया। बच्चा भी है। आयशा जम्मू की जेल में है। बच्चे के लिए नर्स रखी गई है।

"इतनी बड़ी हस्तियों के बच्चे....।"

"..... भारत-सरकार बलिहारी है।"

"लेकिन यूसुफ मैं कह रही हूँ कि अगर सब कुछ बदल जाएगा तो सभी कुछ बदल ही जाएगा।"

वह संकट में पड़ गया। जवाब नहीं देता। मेरी बात पर कोई प्रतिक्रिया न कर ज़बर्दस्त ढंग से विजय की रणनीति सोच कर आया है। यह सोचता हो मेरे कहे में भी कोई सत्य हो ही सकता है।

"क्यों यूसुफ ? तुम जवाब क्यों नहीं देते ? सब बदल जाएगा। मानते हो ?"

बहुत ढीढ है वह। टालता है। जवाब नहीं देता....खैर। मैं बार-बार कहकर अपनी हार और उसकी जीत पुष्ट कर रही हूँ।

"–अब वहाँ के पंडित भी हमारे साथ हैं ?" काफी देर बाद वह बोला।

"यह उनकी लाचारी है– देखो जब सब बदलेगा फिर तुम हमारे साथ हो जाओगे उसी तरह वे तुम्हारे साथ हैं।"

OO OO

बोब राज आया था। श्रीनगर में खाली पदों पर भर्ती के लिए मंत्री महोदय ने मुसलमानों के लिए स्वीकृति दी है। ये लोग परेशान हैं। किससे कहें ? कौन सुने इनकी ? उनकी सब सुन रहे हैं।

मुझे यूसुफ से अपनी बातचीत याद आई। मुझे क्यों लगा था कि मंत्री ने उससे ढाई घंटे बात नहीं की होगी। खिलाया-पिलाया न होगा। वह तो राजनीति के हिसाब से मंत्री का दामाद लगता है। हम ? हम कौन हैं ? सौतेले लोग ? हमसे उन्हें असुविधा है।

बोब राज के साथ राजेन्द्र भी है। मस्त और उन्मुक्त दिखने की कोशिश करता हुआ। ''मारो गोली–इतनी दुनिया मैं कहाँ देखता। वाकई ऐश किए मैंने। यह दिल्ली। यह राजधानी। हम कहाँ देखते ? खूब पैसे भी कमाए। मुझे एक झटके से याद आया कि राजेन्द्र ने कुछ दिन पूर्व कहा था कि उसने एक हज़ार रुपये की किसी दूसरे की राहत-राशि पर झूठे दस्तखत किए थे। –क्या अब उसे कोई खतरा तो नहीं ? उसके ऐश-स्रोत स्पष्ट दिख गए थे तब।

कैसे-कैसे लोग हैं और कहते हैं ''एवरी बटा इज़ एन इन्टैलैक्चुअल।'' एक पूरी जमात का प्रतिनिधि। यहाँ तक कि स्वयंभू नेताओं का भी। जो सोच रहे होंगे यह तबाही न होती तो यों ही मर जाते 'अनसंग', 'अनवेप्ट'। अब तो दुनिया जान गई। अखबारों में नाम आया रोज़-रोज़, बार-बार। हम भी चिल्लाए अपनी ज़ात-बिरादरी के लिए। दुनिया को पता लगा हमारा होना। जीने का कारण मिला। मेरे नेताओं ! ····वह कौआ न बनो जो भूमि पर लाशें गिरने से खुश होता है···· विशाल भोजन-भण्डार के लिए प्रभु को धन्यवाद देता है····जीवन का सबसे प्रिय गान गाता है। कृपा करके ऐसा मत करो।

OO OO

उन्होंने मेरे लिए चांदी की चूड़ी का उपहार लाया। आज मेरा सैंतीसवां जन्मदिन है। इसीलिए। मेरे आने के दिन से ही मेरा दैन्य उन्हें कचोट रहा है। वे दुनिया के तमाम रंगों के विषय में बोलती हैं····पर कपड़ों पर। वे दुनिया की तमाम चित्रकारियों की बात करती हैं, पर कपड़ों पर। वे दुनिया की तमाम दौलत की समीक्षा करती हैं; जो कि मेरे पास नहीं। मेरे पास उनकी तुलना में है ही क्या। एक-अद्द पुरुष भी नहीं। कैसी विचित्र बात है कि एक लुटे आदमी से भी ईर्ष्या की जाए। है न अजीब बात। यह मेरा भ्रम भी हो। मैं उन्हें बराबर एहसास दिलाती हूँ कि मेरा मन (मजबूरी में) यार-फकीरी में लगा है। फिर ढेर सारा ज्ञान-बघारती हूँ। और-और खाली होती रहती हूँ रोज़। खाली और निरीह। उनके लिए उनका ज्ञान अभी तक असफल या गलत तो सिद्ध नहीं हुआ। मेरे ज्ञान की प्रामाणिकता उनके लिए क्या है ? मेरे ग़मे-दिल और वहशते-दिल को जानने की ज़हमत वे क्यों करें ? और मानें भी क्यों भला ? असंख्य बार सरकार को वे हमारी एवज़ में धन्यवाद देती हैं कि मेहर की जो नौकरियों में शेष-देश

में एडजेस्ट किया। मुझे स्वयं पर कभी-कभी काफी क्रोध आता है। हम कैसी कौम हैं ?

हम सरकारी गलतियों से फना हुए। फिर उसी पर फिदा हुए। वह हमारे प्रति जवाबदेह हैं···· पर उत्तर तो कोई माँगे। उसे उत्तरहीन तो कोई करे। कुछ दिन पहले एक (अपनी पार्टी का) नेता बोल रहा था····या क्या पता उसकी बुजुर्गियत बोल रही थी "–तुम लोग भी सिर चढ़ गए हो। पहले कहते थे नौकरी में एडजस्ट करो। जब किया तब कहने लगे यह करो–वह करो। तुम हतभाग्य हो यह मान के चलो। वर्ना यह प्रलय ही क्यों होती।" मैं उसके शब्द तौल रही हूँ। सोच रही हूँ कोई करारा जवाब दूं इसे पर क्या दूं ? किसे दूं ? यह नेता है। माई-बाप है। सत्य वचन बोलता है। यह सत्य बोल चुकने पर वह अपनी कांटैसा में उड़ गया था। मैं बाकी ज़िरह अपने साथ ही करती रही। कितना ख़ून सूखता आजकल इन एकालापों में। एकालाप की शिकार एक चमकदार ज़ात।

OO OO

छत पर हूँ। कितनी देर से खड़ी। स्थान-बोध कभी-कभी होता है। करती हूँ·····अभ्यास से। और कभी-कभी अभ्यास काम आता है। एक रौ है····उसमें चल रही हूँ। घने बादल और ठण्डी हवाएं। सम्मोहन-उपस्थिति से घिरा है सम्पूर्ण। मैं वहीं हूँ। वहीं। बादल कैसे दौड़ रहे हैं मुस्तैद सिपाहियों की तरह। उनकी मुस्तैदी का यह मौसम।

हिमा कहती है····देख····देख वह बच्चा बादल कैसे दौड़ रहा है। जैसे दोस्तों के साथ पतंग उड़ानी हो। हमने चाय मंगाई और वहीं पटरी पर जमे रहे····अचानक घटाटोप बारिश।

गद्‌गद् हो रही है धरती।
नाज़ुक हो उठी है धरती।
गर्भिनी हो उठी है धरती।

हिमा ने छाता ताना और मैं लपक कर दुकान में घुस गई। हम लाल चौक में किसी जगह खड़े हैं। "ओह सचमुच····।" हिमा लगभग चीखते हुए कहती है।

OO OO

कागज़ से प्रार्थना करती हूँ, "क्या मैं तुम पर एक अद्‌भुत, असीम शब्द सा नहीं छप सकती ? क्या नहीं हो सकता ऐसा ? फिर जब तक बने रहोगे तुम, बनी रहूँगी मैं भी। मिटेंगे तो साथ-साथ।

पता नहीं कागज़ के मन में क्या है। सब जानकारियों के बावजूद कागज़

के मन में क्या है–कैसे जानूं ? तब भी कागज़ में है कुछ जो मेरे आंसुओं को ओक भर-भर पीता है। जो मेरे मन में उतर कर बहुत सारा प्लावन सोख लेता है।

OO OO

शब्दों की तलैया है····जहाँ खिलते हैं कमल कुछ। कभी-कभी सोचती हूँ मैं आँख मूंद कर रहूँ और यह तलैया महासागर हो····या महानदी। क्या पता यह तृष्णा है···· या।

शशि आ गई। बैठ गई। बोली– "इस रैक की सफाई तुमने करवाई है। इस पर से कागज़ तुमने हटवाए हैं ?" "हाँ····।" मैंने कहा और फिर भरसक हंस दी।

"शशि कौन रैक···· कैसा कागज़ ? मैंने तो कभी देखा भी नहीं।"

"तुम कहाँ रहती हो ? किस दुनिया में ऐ ज़बर्दस्त आशिका। बिना माशूक की।" "ऐसा मत कह ····शशि ····मेरे दो-दो माशूक हैं ···· फिर मैं क्या देखूं···· कैसे देखूं ?" और वह खूब हंस दी।

"सभी हैं वियोगी
सभी हैं कवि
मेरी मातृभूमि पर उगेगा रवि
टूटेगी तंद्रा यह दुःख की
स्नात सुख की ओस से हम
देखेंगे जगत को देखेंगे····

OO OO

मुहम्मद सईद आया था। मेरी कुर्सी पर बैठा मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। यह दैनंदिन जीवन स्वप्न है। स्वप्न में घर और दिन में इधर। जब इन्हें देखते हैं तब किसी कामनागत संसार में पहुँच जाते हैं। बहुत कुछ लिखा था उसके चेहरे पर। उसका मन-मुखर था उसके चेहरे पर। वह क्लांत, उदास, टूटा था। अपने सत्य के साथ भीतर-भीतर घुटा हुआ।

कुछ दिन पहले तमाम अखबारों में एक दुखद रपट आई थी कि वहाँ की स्त्रियों के साथ बोसनिया की सी हालत है। बड़ा दुखद है। सईद काले उद्देश्यों से उपजी कालिख छिपाने की कोशिश नहीं कर रहा था।

OO OO

रेडियो कश्मीर से मुशायरा। एक मुद्दत बाद। एक बार अप्रैल, 1990 में इलाहाबाद में सुना था। एक-एक अक्षर संशय का लाभ भुनाता। उसकी आड़ में आज़ादी

टटोलता। एक-एक अक्षर भटकाता। दहलाता। किसी कवि ने कविता-पाठ समाप्त किया। कार्य-क्रम संचालक ने बशीर दादा को कविता पाठ के लिए बुलाया...."तंज़ो मिज़ाह में नामी गिरामी...." बशीर पलट कर बोले। "नहीं, नहीं इस क्षण तंज़ो मिज़ाह नहीं"। और एक वेग से कविता शुरू की। फूलों की रंगपूर्णता पर, एक ही बाग में विविध रंगों के फूलों से सौंदर्यातिरेक पर–बहा कर ले जाती हुई प्रवाहमयता के साथ। नवीनता की श्रेष्ठता के साथ मुझे कवि बेसब्र और बेचैन लगे। बोले–"पिछले मौसम में हम खिले थे एक ही गुलदां में, अचानक वह गया पराई सरज़मी में....मुरझाएगा मगर गुल। मैं तुम्हें लाऊंगा-लाऊंगा वापस। खिलेगा फिर तू मेरे साथ एक ही गुलदां में ....तू आएगा वापस ....मुरझाने से पहले.... अगर ऐसा नहीं हुआ तो मैं अपना बीज लेकर छोड़ जाऊंगा यह ज़मीन, कभी नहीं आऊंगा लौट कर।"

बशीर दादा क्या तुम सच कह रहे हो ? तुम्हारी कविता में मैंने एक जुनून देखा या यह मेरा भ्रम है ? पर नहीं कविता में झूठ नहीं बोला जा सकता। या कविता में ही झूठ बोला जा सकता हो ? तुम्हारा यह बिछड़ा गुल.... यह हमगुलदां कौन है ? वही न जो मैं समझ गई। वही होगा। मुझे भ्रम नहीं। तुमने जिस वातावरण में कविता कही वह साहस है इसलिए सत्य के इतर कुछ नहीं हो सकता।

वहाँ सिर्फ बशीर दादा ही बशीर दादा क्यों नहीं पैदा होते ? तुम पहल करो। तुम्हारा हम गुलदां भी तो तड़प रहा है तुम्हारे साथ रहने को। ख़ैर तुम जो भी हो, मैंने बनाया तुम्हारा चित्र। ईश्वर करे तुम्हारे जैसे गुल वहाँ हज़ारों लाखों खिलें और माँ को कांटों से मुक्ति मिले।

तो किसी ने कहा "हमारा क्या है, हम तो मर-मर के जीते हैं, कफ़स के उन दरिंदों का कोई मातम नहीं होता।" ठीक है। पर क्या ये वे दरिंदे हैं जो मेरी नज़रों में दरिंदे हैं या वे जो तुम्हारी नज़रों में। क्या हम एक– नज़र हैं। नज़रों का फेर सख़्त है न ? पर दरिंदे मौसमी परिंदों के बदले ऐसे आए हैं कि छाती पर मूंग दल रहे हैं। मर रही है कश्मीर-संतति। इधर बेघरी, मुफलिसी, लाचारी और आग में उधर दरिंदों के शिकार के तौर पर।

कोई कहता है–"यों ही अज़ां नहीं थी पुरानी किताबें, हमारा ज़ेहन मोड़ा जा रहा है।" मेरी बेचैनी अंतरित होते हुए कहाँ-कहाँ उतर रही है। मैं इसे कोई नाम नहीं दे सकती। किसी को बता नहीं सकती। मैं दौड़ कर छत पर जाती हूँ। कल पूनम है। चाँद कैसा पूरा का पूरा बिछा हुआ है खुशी में....शहतूस-शाल सा। अब होगा पहाड़ियों....से उतर झीलों में नाचता। कल अमरनाथ के दर्शन हैं। सुना तुमने चाँद। हम घर जाएंगे। सच हम घर जाएंगे। हम वहाँ मिलेंगे। ज़रूर मिलेंगे। फिर

अमरनाथ की पहाड़ियों पर जी भर कर लोट जाएंगे । महागुणस के फूलों की औषध से बेहोशी लपेट लेंगे···जी भर सोयेंगे···कहते हैं उस नींद में मरा भी जा सकता है···क्या यह सच है ? मैं यहाँ किससे पूछूं निपट अकेली ? किससे ? रे गूंगे बदतमीज़ ।

○○ ○○

पापा शोर मचाकर मुझे जगा रहे हैं । 'ऐ उठ उठ·····उठ जल्दी माँ को भी जगा । बच्चों को जल्दी से फट्टे पर सुला ।'

मैं फट्टे पर अकेली सोई थी । बच्चों को नाना-नानी के बीच सुरक्षा के शत-प्रतिशत एहसास के साथ सोना ठीक लगता है । कल शाम जब हम सोये थे आसमान को मूसलाधार बरसते हुए छोड़ दिया था । रात के तीन बजे पानी दरवाज़ा खटखटा रहा है ।

"ऐ उठ समेट चीज़ें···देख उनका कमरा सारा भर गया है···पापा लगभग चिल्ला रहे हैं । मैं उठी थी पर जडवत् थी । रसूल ने लिखा है नींद से जागो तो एकदम से उठो मत । पहले सोचो तुमने क्या देखा ।" अरे भाई रसूल ! तुमने आराम से वतन में हमवतनी की बातें सोची हम वतन से निकाले गए जतन तो करें कुछ···पर मैं क्या समेटूं । मेरे हाथ-पांव में ताकत कहाँ है । जैसे निकाले जाने के अंतिम क्षण तक मुझे लग रहा था हम निकाले नहीं जा रहे हैं उसी तरह पानी भीतर भरते जाने तक मुझे लगने लगा है कि पानी भीतर नहीं आ रहा पानी उसी वेग से बरस रहा है । मैं प्रार्थना करती हूँ··प्रभु बारिश बंद कर···बस कर···बस कर···मुझ पर दया कर···देख मैं इन बुजुर्गों और बच्चों के साथ कहाँ जाऊंगी । इस मकान की दूसरी मंजिल भी नहीं ।

मकान मालिक ने अपने दरवाज़े के आगे बोरियां, रेत और ईंटें रखकर पानी के खिलाफ मोर्चाबंदी की है । मैं जड़ीभूत हूँ । हाथ-पांव टूट गए हैं । कोई चीज़ हटा भी नहीं पाती । फिर एक बारगी सोचती हूँ कि–पानी आ । तुझसे रुकने की प्रार्थना कर रहे होंगे तंबुओं में रहने वाले । न जाने क्या कर रहे होंगे वे जो अंततः छोड़ देते होंगे स्वयं को तुम्हारी अनुकम्पा पर । दया पर ।

पानी झमाझम कमरे के अंदर आ रहा है । बच्चे फट्टे पर मस्त सो रहे हैं । हम तीनों मुस्तैद हैं उन सिपाहियों की तरह जिन्हें पता नही होता शत्रु की पहचान क्या है । सारी बस्ती में पानी भर गया है । जिनकी दूसरी मंजिल है वे फिर भी राहत में हैं । अगर फट्टे के ऊपर तक पानी आया तो क्या करेंगे । चप्पलें और कुछ कागज़ नावों की तरह पानी पर तैर रहे हैं । माँ की आँखें भी बरस रही हैं । मैं उस पर हंस रही हूँ– एक नकली हंसी । "इसमें रोना क्या ? जो तम्बुओं में होंगे उनका

हाल ? अभी उतर जाएगा पानी, बारिश थमेगी। मैं सूखी आँखों से फट्टे के कोने पर बैठी पानी की धर्मिता पर सोच रही हूँ। भला इसका कुसूर ? इसे जगह चाहिए। आइए····स्वागत····हम वीतरागी द्विज····द्विजन्मा····ढो रहे हैं सुख की स्मृतियों का दुःख।

OO OO

संजना कौल की टिप्पणी देखी। इस वनवास का दुःख वह क्या जाने ! फिर भी ठीक ही थी उसकी टिप्पणी। चंद्रकांता की ताईद करती हुई। एक विचारधारा का रेवड़ पहाड़ से उतर रहा है क्योंकि कोई शेर अचानक आ घुसा है। विचारधारा की भेड़ें हरी-हरी घास चर रही थीं मस्त। शेर के सत्य की उपेक्षा कर। इस शेर का क्या करें अब। बहुत दूर के ज़ावियों से इसे मुड़-मुड़ कर मुश्तें दिखा रहे हैं। शेर है कि उनकी ओर देखने की हिमाकत भी नहीं करता। अब तक पिंजरे में पड़ा नशे की सुइयों को पचाता रहा, आज नशे पर हावी हुआ····मौका पाया, पिंजरा तोड़ा बाहर आया···· कि बस।

''आम कश्मीरी के सर्वनाश' की बात संजना ने भी अस्पष्ट की है। संशय का लाभ वे भी ले रहे हैं और शायद हम भी। सर्वनाश किसका ? उन्हें तो मुक्ति चाहिए। मगर हम ? एक सौ ख़ून किया हुआ कैदी यदि किसी क्षण कहे लो मैं मुख्य धारा में मिलूंगा। बहूंगा। मुझे मुख्य धारा के घाट ले चलो। तो गाझे-बाझे होंगे। सुबोध दास कह रहे थे– 'पता नहीं कहाँ बहती है यह ससुरी मुख्य-धारा।''

बुद्धिजीवी परेशानी का विलास-नाटक कर रहा है। सत्य को अपने नफा-नुकसान का पूरा जोड़-तोड़ लगाकर गढ रहा है। आत्मा का कैसा दैन्य व्याप्त है····इसकी चिंता एक अबुद्धिजीवी, अनाटकीय, सरल सीधे आम व्यक्ति को है····वही नायक है इस क्षण।

OO OO

आज की पंद्रह अगस्त। किश्तवाड में एक बस से सोलह हिंदुओं को उतार कर एक लाइन में खड़ा कर गोलियों से ढेर बना दिया गया। अब आज काला दिवस है। गांधी शांति प्रतिष्ठान में। किसे जगा रहे हैं आप ? सोये को जगाया जा सकता है पर समझ में नहीं आता नींद का नाटक करने वाले को कैसे जगाया जाता है।

OO OO

उन दिनों आत्मघाती दस्ते ट्रकों में देखे थे····जोशीले। खास कर उस दिन जब घर खाली थे····ज़नो–बच्च चरार शरीफ गए थे····आज़ादी के जेहाद की शपथ लेने। कफ़न पहने वे नाले-तखबीर कर रहे थे और लड़कियों को देख आँख दबा रहे

थे। इससे उनके संकल्प की पोल खुल रही थी। हमारे साथ नुसरत थी····हमें इस पर हंसी आई थी। तब नुसरत ने चेताया था। "ख़बरदार····यह तो चलो मैंने देख लिया····मुजाहिद देखता न ए के सैंतालीस से ढेर करता।" हमने हंसी दबाई थी। बिना डरे। बात पची नहीं थी। आज हैरानी होती है प्रायः याद कर कि क्यों हमें बात पची नहीं थी। दरअस्ल जब तक बात समझ में न आए····पचेगी क्या ? अनुभव पाचन शक्ति ही तो देता है।

आज ये लोग भी कफन पहने हैं। मुट्ठी भर लोगों में से भी मुट्ठी में बूंदों की तरह रिसता हुआ एक-एक। ज़िंदाबाद और ज़िंदाबादों पर विवाद।

मैं क्या सोच रही हूँ ? कहाँ हूँ ? मेरे पास कुछ लोग आ रहे हैं और कह रहे हैं– "वह बीमार है। ख़ून की उल्टी····।" मैं अपना आप थाम लेती हूँ। वह अमेरिकी रिटर्न आदमी खड़ा है सामने। बंदा खूब है। मैं बहुत देर तक अकेली खड़ी हूँ और देख रही हूँ। मुझे कभी-कभी यह अपनी धृष्टता लगती है। पर अब तो आदत पड़ गई है। अकेली, अकेली, अकेली।

मैंने उससे क्या-क्या कहा। मुझे नहीं कहना चाहिए था। मैं अपनी निरीहता की परतें खोलती रही। मुझे चुप और अलग रहना चाहिए था। पर वे सब एक-एक कर आए और सभी दोहराते रहे कि "वह····।" मैं एक कब्र में सब कुछ रख कर चल रही हूँ। इस कब्र को साथ उठाए तब सब कुछ ठीक होता है। कैसी है यह कब्र। इस पर घनी-घनी घास उग आए तब भी यह बड़ी आसानी से खुलती है···· एक-एक दफनाई बात बिल-तरतीब बाहर आती है। स्मृतियां वर्तमान होकर मुझ पर छा जाती हैं बादलों-सी। मुझे पगला देती हैं। धुत कर देती हैं। मैं कहाँ से कहाँ पहुंच जाती हूँ। अब मैं इस कब्र की हकीकत समझ गई हूँ। क्या कीजिए। मैं अपने पीछे हज़ारों हज़ार आँखें चिपकाए चल रही हूँ। कहाँ ? अकेली। किस जगह यह कौन सी जगह ?

मैं जंगले से सटी खड़ी हूँ। एक अधेड़ महिला पूछती है। "यह पार्टी कैसी है ? क्या लोग साथ हैं ?" मैंने उसे इंगित से बताया "वह आदमी····वह सामने नेता है वह जानता है····उससे पूछो।"

"बस करो जी····अब प्रेस तो लगभग सारी आई।" वह नेता कफ़नधारियों से मुखातिब था। यानी उद्देश्य खत्म। हर आंदोलन को यह प्रेत खा जाता है। मेरे अंदर एक हंसी दब गई। तो है न यह एक दुकान। तभी वह महिला पूछ रही थी कि यहाँ माल कैसा है ? इस दुकान का कोई साझीदार अपना उज्ज्वल भविष्य देख कर अलग करोबार के भी स्वप्न देखता है।

"क्या हो गया था ?" मैंने उससे पूछा। "आज तक मुनाफा ही मुनाफा रहा

घाटे का एक झटका भी तो आना ही था। बेशर्मी की सीमाएं तोड़ रहा है यह।

OO OO

जर्मन विद्यार्थी को यादव जी मेरा परिचय देते हैं। "हमारे साथ कटु है आजकल⋯कहती है आप भी साम्प्रदायिकता पर लिखते हुए हिन्दुओं को ही रगड़ना जानते हो। कश्मीर से आई हैं। इस्लामी आतंकवाद के कारण, सब-कुछ वहीं छोड़ कर।" जर्मन विद्यार्थी मुस्कुरा रही है पर सिर के झटकों से आभास देती है जैसे वह सब कुछ समझ गई पर अफसोस उसे इसका कोई दुःख नहीं।

जेन कीनियन सभी का स्वागत करती है। उसकी आवाज़ सभी स्वरों के कोलाहल में से पाश्चात्य-संगीत सी प्रस्फुटित हो रही है।

गगन गिल कहती है– "इसी तरह बहता होगा देश, प्रवासियों की रगों में।" मैं लगभग अपनी चीख़ को घोंटती रही। हाँ, सचमुच जैसे हमारी रगों में बहता है। जैसे रगों में ख़ून के साथ-साथ पीड़ा बहती है⋯या स्मृतियां⋯जैसे रगों में ख़ून के रूप में वंश बहता है वैसे ही। ठीक वैसे ही। मैंने दाद दी। अमरीकी और भारतीय बुद्धिजीवी सज्जनों के बीच बैठे इन क्षणों एक नन्हें, नटखट बालक सा मेरा कश्मीर मेरे पास आया। मुझसे खुशी के मारे दुलराते न बना। मैंने चीखना चाहा⋯क्योंकि गगन ने सच कहा। तुम्हारी इस मौन परम्परा से मुझे उलझन है बंधुओं। एक अच्छी कविता पर नाचा भी जा सकता है, गाया भी जा सकता है, रोया भी जा सकता है। है न?

OO OO

परसों उस जंगले से सटी-सटी खड़ी देखते हुए वह कफ़नधारी आया था और कहने लगा था कि तुम्हारे पति ने कहा है कि तुम चरित्रहीन हो⋯फलाने से तुम्हारे सम्बन्ध हैं। जब उसने मुझे उस आदमी का नाम बताया जिससे मेरे सम्बन्ध हैं तब उनकी कल्पना शक्ति पर तरस आ गया। चुप रही। ऐसा ही होता है। एक औरत के विषय में इस स्वतंत्रता का सभी इस्तेमाल करते हैं। मेरे पति ने कहा होगा या नहीं पर बात इस समय इसकी कल्पना-ताल से उगी है। अगर मैं किसी से प्रेम करूं मेरा क्या अपराध है? मैं इस समय कोई भी अपराध कर सकती हूँ⋯निरपराध। आज पंपोश अहाते में वही दिख गया। मैं जिस पुरुष से बोलूं, बात करूं, विमर्श करूं मेरे सम्बन्ध उससे हैं। ख़ैर कितनी थ्रिलिंग बात है⋯वाह मज़ा आया। इस बेजानी में कोई जान तो आई बंदे।

वे कुछ पर्चियां बांट रहे हैं। उस आंदोलन का कोई उत्सव कर रहे हैं। संघर्ष नहीं उत्सव। और ये लौंडे (कार्यकर्ता) कहते हैं अपने भी चार पैसे बनते

हैं। यह उस वामपंथ के तत्कालीन शिखर-प्रतिक्रियावादी का पुत्र है···जो अब एक खड़ूस बुड्ढे में बदल चुका है और कभी जिसने मार्क्सवाद को गति और चमक देने के लिए ठाकुर-बाडे का ठाकुर चार आने में बेचा था। अब इस छिछोरे (शगुल) उत्सवधर्मी आंदोलन में बेटे को लगाया है। एक देग रखी गई है जिसमें विदेशी भिक्षा पड़ती है। भिक्षा भूखों को नहीं, इन लुटेरों के पेट को फुला रही है। शायद यही होता है जब कोई कौम मर जाती है। इस उत्सवधर्मिता से विलग यदि इनकी पड़ताल करें तो इनके जीवन का महाशून्य पारदर्शी हो उठेगा। शायद ये आत्महत्या कर लें। आखिर आत्माविहीन व्यक्ति को अपना जीवन सटा कर खड़ा रखने के लिए कोई दीवार चाहिए।

ये लोग इस दीवार से सटे खड़े हैं और दोनों हाथों, टांगों, धड़, सिर इत्यादि से इस दीवार के साथ खड़े हैं, उस दीवार को खड़े रखे हुए। परम्परावलंबी।

जल्दी ही कोई उत्सव होने जा रहा है। घर कब जाना है ? कैसा होगा तब ? पहले तो जाएंगे ही कब···मर जाएंगे तब तक। यही उत्सव होते रहेंगे।

OO OO

वह लंगूर का हम अक्ल और हम शक्ल भी पर्चियां बांट रहा है। बहन और बाप वहाँ से आतंकवादियों की वकालत लिख रहे हैं; यह यहाँ से इस आंदोलन की पर्चियां बांट रहा है जिनमें 'सच' लिखा है। वे वहाँ 'सच' बोल रहे हैं। यह यहाँ 'सच' की सेवा कर रहे हैं। दोनों जीने का जतन मज़ेदार ढंग से कर रहे हैं। जगह-जगह की तासीर भी होती है ज़ेहनों पर। मुझे उसका यह काम देखकर, उसे देखकर प्रायः वह क्षण याद आता है जब 'जनसत्ता' के परिशिष्ट सम्पादक ने मेरे इलाहाबाद से दिल्ली आने पर कहा था– "तो आ गईं आप इलाहाबाद से दिल्ली वापस ?"

"एक झोंका और आता मुझे घर ले जाता काश···।" मैंने टूटती···कामना से भारी आवाज़ में कहा था। वह बंदर की तरह उसकी टेबुल पर बैठ बोला था– "क्या रखा है वहाँ···क्या है वहाँ ?" मैं अवाक् रह गई थी। यह वह कह रहा था जबकि उसकी जीवित बहन, माता-पिता सब वहीं हैं।" मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं ···दरअस्ल वह पर्चियां नहीं बांट रहा···बल्कि पैसा कमा रहा है···विदेशी पैसा। उस पर तुर्रा यह कि वह कविता भी करता है। कुछ समझ में नहीं आता।

OO OO

मैं लिखती रही बहुत कुछ, मन की वर्कों पर। कुछ मिटता गया और कुछ रहा अमिट। इस बीच बहुत कुछ घटा। अच्छा बुरा। कटु। स्वाद। स्वाद की परिभाषा मेरे लिए उलट गई है। मुझे बहुत कुछ कहना था तिथिवार। पर तिथियां मेरे हाथ

नहीं आतीं छूटे हुए पथ-सी। और न कलम हिलती है न कागज़ बिछता है।

मैं नई जगह आई हूँ। विक्रय-विभाग में। मैं बेहद व्यस्त रहती हूँ। मैं नया काम सीख रही हूँ। यहाँ सब मेरे गुरु हैं। पुराना जन्म हमारा लगभग मिट गया। हम नए जन्म में घुलने की कोशिश में हैं।

पुराने जगत् को विसार देने और नए जगत् को पहचानने के बीच के संक्रमण में बच्चे पिछली स्मृतियों और नई पहचानों के बीच झूलते रहते होंगे। वही हमारा हाल है। पर हमारा यह संक्रमण मृत्युपर्यन्त बना रहेगा। प्रखर और चमक भरा। यही तो काफिरी का सबसे बड़ा अज़ाब है। बच्चे निजात पाते हैं। हम नहीं पाएंगे।

OO OO

मुझे बुलाकर आदेश मेरे हाथ में थमा दिया। मेरा तबादला वापस इलाहाबाद हो गया है। मैं हैरान हूँ। यह क्या ? मुझे क्या करना चाहिए अब ?

वांचू आया। उसके चेहरे पर तनाव है। चिंता है। मुझसे ज्यादा गहरी और जटिल। मैं हंस देती हूँ।

"आप हंस रही हैं।"

"....तो क्या...कहीं रोने से तकदीरें बदलती हैं ?"

मेरा मन दो सम्पूर्ण व्यक्तियों में बराबर-बराबर बंटा है। ऐसा नहीं मैं परेशान नहीं हूँ। ऐसा भी है कि मैं बिल्कुल परेशान नहीं हूँ। मैं इलाहाबाद जाने के लिए भी तैयार हूँ और अपना यह जाना रद्द करने के लिए भी तैयार हूँ। "आप निर्णय लो....क्या करना है ?" वह कहता ज़रा सी ऊंची आवाज़ में है।

कितनी अच्छी बात कहते हो बंधु। कितना विश्वास है तुम्हें मेरे निर्णय पर।

हम बड़े साहब के सामने बैठे हैं। "देखिए आपके लिए क्या फर्क पड़ता है....आप कहीं भी रहें। आपका कोई घर तो है नहीं।"

तो हुजूर यह भी खूब है। अंधे को अंधा सामने कहने से नहीं कतराते हो। बेघरों को कहीं भी भेज दो फर्क क्या है। तकलीफ तो उसे होगी जिसका घर है। मैं मन के सितार पर गाती हूँ...."बारिश का मौसम है भीगे जाने का डर है, वे क्यों भागे जाते हैं जिनके घर है।" सब कुछ उल्टा पड़ रहा है। दुनिया का दूसरा पासा। वाह ! वाह ! मैं ताली बजा-बजाकर हथेलियां लहूलुहान कर रही हूँ। तुम्हारा सोचना सही है।

OO OO

मैं संसद मार्ग से जा रही हूँ। मौसम दूसरी तरफ हो लिया है। सड़कें तेल

उगलना शुरू हुई हैं। मैं आग के किनारे ढूंढ रही हूँ। तू बह···मैं बुझाऊंगी नहीं पर मुझे भी चलने के लिए पैर भर किनारा दे। फिर आत्म-हास्य। मज़ा आ रहा है। संसद मार्ग पर कोई नहीं चल रहा या चल रहा हो तो ये मेरे लिए चलायमान मूर्तियां हैं मनुष्य नहीं। मेरी चप्पलें तारकोल में धंसती जा रही हैं। मेरे चलते हुए चप्पलें तारकोल में धंसती फिर बाहर निकल आती हैं। मन में निकोनारा पारा की कविता कौंधती है। विशाल भीड़ में कोई दिख नहीं रहा···मात्र उसकी प्रेमिका। वह तीव्र प्रेम है···यह क्या है ? जीवन की तीव्रतम ज्वाला। जीवन से तीव्र प्रेम। और प्रेम अपने घोर दुःखद स्थिति में भी आनंददायी और एकाग्रतादायी ही होता है। इसकी सीढ़ियां भी चढ़ते हुए तेल-चूती रहती हैं···तीव्र ज्वाला में। फिर गाता है···मन "लतन हुंद माज़ लारयोम वतन···।" मैं स्वर कुछ आरामदेह ढंग से निकाल रही हूँ ताकि बाहरी कानों से भी आवाज़ अंदर उतरे···यह तो अरण्य है···यहाँ है ही कौन···कौन सुन रहा है यहाँ···अगर सुन रहा है तो समझ कौन रहा है···कि छिल कर तलवों का मांस मिल रहा है सड़कों की रोडी से···।"

OO OO

वांचू का फ़ोन। उसकी मनुष्यता से मात खा रही हूँ।

"दराज़ में से तमाम दस्तावेज़ बाहर निकाल कर मेरे पास पहुँचो।"

"कहाँ ?"

"किसी बस स्टॉप पर मिलेंगे।" मैंने तपाक से कहा दिया। वह बेलगाम हंसा।

वह समय पर पहुँचा। मैंने हंसी से ही उसका स्वागत किया।

"तो आप जाओगी ?"

"कहाँ ?"

"इलाहाबाद ?"

"शुभ-शुभ बोलो बंधु। अब नहीं जाऊंगी।"

"क्यों ?"

"वह खुलासा बाद में करूंगी। अभी बोलो दफ्तर के हाल।"

"बस विचित्र सन्नाटा है। सहम है। वरियाणी आया था। लोगों की प्रतिक्रिया जानने। शायद प्रसन्न थे।"

"तब ?"

"तब कुछ नहीं। बस उस हरम की रानी ने कहा कि अभी कुछ और लोगों को ठीक करना है।"

"तब फिर हमें इन्हें ठीक करना ही होगा।"

"तो तय हो गया।"

हमने दो गिलास जूस पिया और सफ़र शुरू किया।

"कहाँ जाना है ?"

"उस नेता के पास।"

"ये दस्तावेज़ ?"

"दराज़ बिना ताले का था। वहाँ रखना ख़तरनाक भी हो सकता था।"

"ठीक कह रही हैं आप।"

"उसे कुछ सूचना भेजी ?"

"किसलिए ? इसलिए कि लो खुश हो जाओ।"

"नहीं-नहीं, वह आएगा।"

(मैं इस पर, हंसने के सिवा और क्या कर सकती हूँ। तुम्हें क्या पता वांचू मैंने उसे फ़ोन किया। तार भेजा कि तुम्हारा परिवार परेशान है। मुझे भी आशा रही कि बच्चों का दुःख में रहना उससे सहा नहीं जाएगा। पर उस व्यक्ति की संवेदनहीनता का कोई अंत नहीं।)

"मुझे उस व्यक्ति के बारे में बहुत आश्चर्य हो रहा है।"

"मुझे तो नहीं हो रहा।"

"नहीं-नहीं यह तो घोर अमानवीयता है।" इस संसार में किसिम-किसिम के आदमी हैं भाई। मेरा मकान-मालिक कहता है उसने लक्ष्मीनगर में कमरा लिया है जहाँ किसी लड़की के साथ रह रहा है। मुझे इस पर भी हंसी आ रही है। अपनी-अपनी नैतिकता। क्यों ?

"दुःख में आदमी भी दार्शनिक होता है।"

"निस्संदेह।"

"दुःख में आदमी हंसता भी है।"

"क्योंकि दुःख उसकी हंसी उड़ा रहा होता है।"

OO OO

हरिकृष्ण कौल का फ़ोन। बाबा (नागार्जुन) के बारे में पूछ रहे थे।

"–कौन पूछ रहा था।"

"–अग्निशेखर।"

"–क्या मालूम। शांतिनिकेतन, दरभंगा या दिल्ली। पर पता नहीं।"

"–अग्निशेखर तुम्हें भी फ़ोन करेंगे। यह कह कर हरिकृष्ण कौल ने फ़ोन

रख दिया। सोचा कहूँ तब तो भव सागर तर ही लिया मानो। जो सरकार फ़ोन करेंगे इस पैर की जूती या नाचीज़ को। वह भी फेंकी हुई, बोसीदा।

इस शहर के सबसे बड़े सभागार में उत्सव है। लुटने-मिटने का उत्सव। कि अखबारों में ख़बर तो आती है····हंसी का उत्सव। अपनी यही अंतिम ज़रूरत है। बोलने वाले ये स्वयंभू, बड़बोले बुद्धिजीवी। और सुनने वाले गूंगों का एक विशाल-समुदाय। गूंगों से आँख मूंदने को कहा जाता है और उनके भिक्षा-कटोरों में से भिक्षा धन उड़ा लिया जाता है। कहा जाता है····बने रहो अंतरराष्ट्रीय भिखारियों। भीखोगे नहीं तो जिओगे कैसे। वे जम्मू के तम्बुओं में कटोरे लिए हैं ये·····अब तक कटोरों में आया धन लूट दिल्ली में सबसे महंगी मेहंदी रात कर रहे हैं। गायन-वादन-भाषण, खान-पान-प्रदर्शन सब कर रहे। यहूदा के शब्दों में उनकी खाद पर ये स्वयं को भविष्य के पुरातत्व बना रहे हैं।

OO OO

ढेर सारी कड़ुवाहट है। मानो सारा जीवन नीला थोथा खाती रही हूँ। डेरे पर मकान-मालिक, दफ्तर में बॉस और पूरे जीवन में वह 'जीवन-साथी' नीले थोथे के विराट जंगल हैं, जिन्हें मैं अपने संसार की ज़मीन पर ढो रही हूँ।

फ़ोन पर बात कर रही थी। बातचीत कविता पर केन्द्रित थी। साहब आँखें मटका रहा था। 'दफ्तर के फ़ोन पर ये बातें–दफ्तर के फ़ोन पर सिर्फ़ दफ्तर की बात होगी।'–कल जल्दी चली गई थी। शायद यह उसी की सज़ा है। पर मैं बाकायदा छुट्टी का आवेदन करके गई थी। आज उसने वह आवेदन-पत्र ढूंढा। ईर्ष्या-वृक्ष चारों ओर। और मैं अपना चंदन-तरु बचाना चाहती हूँ।

कभी-कभी यह सब छोड़ देने का मन होता है। पर मैं कैसे छोड़ सकती हूँ। आखिर पुरुष द्वारा त्यागी गई एक औरत कैसे कर सकती है ऐसा। एक बार उससे भी तो ज़िक्र किया था कि कोई दया उपजे शायद····पर कहा था "चापलूसी करो, 'कुछ भी करो'····पर अफसर को नाराज़ मत करो।" माथा ठनक गया था सोच-सोच कर कि यह 'कुछ भी करना' क्या करना है।

हमारा एक-एक दुःख बेघरी से जुड़ा है। सिर्फ़ जलावतनी से। जलावतनी से पैदा हुआ यह आंदोलन–बाप कहता है 'कुछ भी करो' और अफसर को खुश रखो। क्या व्यक्तित्व के इस पासे से मेरे सिवा कोई परिचित है। खुदा ही हिफाज़त करे तुम्हारी मेरे····हमवतनो। आंदोलन-अनुगामियों।

कभी-कभी मन से क्षीण शाप निकलते हैं····निरहिता में मुझे नंगा करते हुए से। भगवान तुम्हारा भी घर-बार छीने····हम पर हंसने वालों····तब समझोगे जलावतन

होने का अपार दुःख।

OO OO

चंद्रकांता की 'यहां वितस्ता बहती है' पढ़ रही हूँ। कहीं-कहीं बढ़िया अंश मिले पढ़ने को। राजनाथ से परिचय हुआ जा रहा है। पर है वह बेहद औसत व्यक्ति। कोई वैलक्षण्य नहीं। फिर भी चंद्रकांता की वर्णन-शक्ति प्रभावित करती है। 'ऐलान गली' की सभी गलतियों को लेखिका ने सुधारा है। अच्छा लगा उसका पुस्तक में किए गए संस्कृत मूल शब्दों का कश्मीरी तद्‌भव प्रयोग। घर के आसपास ही गलियों, सड़कों, आसमानों में उड़ रही हूँ, चल रही हूँ····तैर रही हूँ कि डूबने का मन है। पर आत्मा डूबती नहीं न। क्या करूं। आत्मा कितना ही गहरा गोता खाए, पर वापस आती है ऊपर ही कुशल गोताखोर की तरह', वृक्ष के पत्ते की तरह। डूबने के लिए शरीर साथ चाहिए। अरी ओ आत्मा की बच्ची। शरीर के बिना तुम्हारा क्या अर्थ। वर्ना तुम क्या घर में नहीं होती ? होती हो। पहले से ज़्यादा, संगीन····पर कहाँ होती हो। ढोती हूँ न मैं अलग-अलग। कैसी टुकड़ा-टुकड़ा हालत है शरीर और आत्मा की।

OO OO

भारत भारद्वाज मेरी प्रतीक्षा में थे। श्रीराम सेंटर में। किताबें देखते हुए। उसकी इस उत्सुकता की आपात्स्थिति में भी खूब संभालती हूँ। जयदेव तनेजा पुस्तकें पलटने में तल्लीन थे। भारत ने प्रणाम किया। इस आदमी के अंदर रचनाकारों के लिए प्रेम बेहद है।

हम श्रीराम सेंटर से निकल कर साहित्य अकादेमी के सामने चाय ले रहे हैं। "–अच्छा लगता है मण्डी हाउस के इन पगलेटों के बीच खड़ा होकर चाय पीने और कुछ क्षण बुद्धिजीवी दिखने में।"

वह हंसे और मेरे हाथ को छू सा लिया। मुझे विचित्र लगा और स्थिर हो गई। तो मुझे सचमुच स्थिति संभालनी ही है। 13 वर्षों की इस दोस्ती में हमने दो व्यक्तियों, दो मस्तिष्कों, दो विवेकों की दोस्ती निभाई है बंधु। आगे भी। शायद वह झेंप गए हों।

मैं सीधे साहित्य पर आ गई। मुझे साहित्य का रत्ती भर भी पता नहीं पर अनुभवों के तेज़ बल्ब जल उठे लगते हैं। अब अपना अज्ञान परेशान नहीं कर रहा। बस अनुभव के साथ नग्न रूप से खड़ा होने का हौसला चाहिए। ऐसा न हो कि कभी किसी निद्रालोक की खोज में चल पड़ूं।

"–इधर कुछ लिखा ?"

"–तो उससे क्या फर्क पड़ता है। वैसे कुछ नहीं लिखा मैंने।"

"–इधर जगूड़ी जी का साक्षात्कार पढ़ा।" कहते हैं कि सारे आश्चर्य समाप्त हो गए हैं। इससे वे अपना ठेठ मार्क्सवादी होना साबित करते हैं क्या ? कवि की दृष्टि को आश्चर्यों की खोज न करने का निर्णय लेना पड़े। अरे यहाँ तो क्षण-क्षण आश्चर्य है। है न ? फूल भी हमें कई बार कई तरह से देखता है या हम उसे देखते हैं।"

–बस कुछ अच्छा बोलने के बाद हर कोई इसी तरह बोलने लगता है। ...और 'तत्सम' को पुरस्कार मिला। बहुत जैनुअन किताब को मिला। अच्छा लगा। राजी जी का नंबर घुमाया था...कोई था नहीं घर पर शायद।...कैसे एक-एक मन की परत उधड़ी है उस स्त्री की...एक-एक ग्रंथि...पर राजी की कुछ कहानियों में वह पठनीयता नहीं...।"

–रचना में अनुभव की श्रेष्ठता को लेकर महिलाएं ज्यादा कमज़ोर हैं...।" –ठीक है...पर कर भी क्या सकती हैं...। ज्यादा ज़रूरत है शिद्दत की। शिद्दत नहीं तो कुछ नहीं...बेहतर है अच्छे पकवान बनाकर बच्चों को खिलाओ। दोस्तों से अच्छी सी गपशप करो। या प्रार्थनाएं करो...कुछ भी नहीं होता तो आराम फरमाओ...।" वह हंस रहे हैं। मैं बहुत देर से बक-बक कर रही हूँ। भगवान दास रोड़ से तिलक मार्ग की तरफ मुड़ना है। पर मैं नाक की सीध में जा रही हूँ।

"–तुम कहाँ जा रही हो यह तो अप्पू घर है।"

–अप्पू घर ? अरे...अब धीरे-धीरे धुंध छंट रही है। हाँ, वहाँ दरवाज़े को घेरा गया है। मुझे क्यों लगा कि वह कहीं का रास्ता हो सकता है। अजीब बात है। हमारा तालमेल ही नहीं बैठ पाता किसी शहर से।

"–रोज़ यहाँ से गुज़रती हूँ...रोज़ नहीं पहचानती हूँ।"

"–लेकिन वह गज-शावक कहाँ हैं सिंदूर-सना।"

"–यह दूसरा गेट है।"

"–ओ उ उ उ....।"

तुममें स्थिति सम्भालने की एक विचित्र तेज़ी और विट है...इसे यदि ऐसे ही लेखन में उतरा जाए तो...अद्भुत लेखन हो...।" –अद्भुत लेखन...अद्भुत जीवन क्या कम है, पर 'सामान्य' और 'अद्भुत' में फर्क की क्या-कौन रेखा है ? मुझे कई वर्ष पूर्व देखा अपना स्वप्न याद आया। एक आदि अंतहीन इमारत। और मैं तल-दर-तल चढ़ रही हूँ। जिस मंज़िल पर पहुँचती हूँ...तो एक विराट छलकता हुआ समुद्र खुलता है...मैं जितने भी तल चढ़ती हूँ...एक-एक उफनता...छलकता समुद्र खुलता है......मैं मंज़िल दर मंज़िल चढ़ रही हूँ इस उम्मीद में कि कहीं तो ज़मीन हाथ आएगी। याद नहीं आ

रहा किसी मंज़िल पर मुझे धरा मिली थी या नहीं पर उन असंख्य समुंद्रों की जीवंतता और अंतहीनता मेरे अंदर कैद है ।

वह मुझसे कुछ निजी पूछ रहे हैं । मसलन पति । कहाँ ? आए ? गए ? मिले ? यही बकवास ।

मैं मुस्कुरा रही हूँ । कुछ देर बाद यहूदा की पंक्तियां बोलती हूँ–

"मेरे काफी रिश्तेदार हैं
जो मिलने कभी नहीं आते
पर जब वे मरते हैं
तो मेरे ख़ून में आ मिलते हैं ।"

"–लगता है आजकल खूब पढ़ रही हो ।"

–नहीं । ऐसा कुछ नहीं । पर एक नया बोध एन्ज्वॉय कर रही हूँ । कीटत्व-बोध । अर्थात् मैं एक कीड़ा हूँ मनुष्य नहीं । वह भी नर कीड़ा नहीं । मादा कीड़ा । यहाँ भी यह दलितत्व मेरे साथ चस्पां है और उसे भी एन्ज्वॉय कर रही हूँ । जब कुछ न कर सको तो एन्ज्वॉय करो । समर्पण की एक बौद्धिक शैली । नाटक से भरी शैली । है न ? मानव-अधिकारों के लिए रोना वृथा है । क्यों न स्वयं को कीड़ा मानकर चलें । मानकर चलें किसी के बेकसूर पैरों से भी रौंदे जाने पर मोक्ष मिल सकता है । उन पैरों की प्रतीक्षा है । स्वागत है । वे पैर पड़ें तो सही । वह तन्मयता से मुझे सुन रहे हैं । पर मैं सरपट दौड़ने की तर्ज़ पर चल भी रही हूँ । घर देर से पहुँचूंगी इस बात से परेशान हूँ ।

आई.टी.ओ. आ गया । शुक्र है प्रभु । वह कुछ कहना चाहते हैं । मैं समझ रही हूँ । कहीं कुछ शब्द हैं उसके अंदर जो बाहर निकालने की ताक में हैं वह । पर मैं उसके हर साहस को उसके अंदर वापस धकेल रही हूँ । आप मेरे श्रद्धेय हैं। सन्मित्र हैं । बस ।

कहीं यह तो नहीं कि तुम पत्नी-विहीन और मैं परित्यक्ता । पर मित्र चीज़ों का यह सरलीकरण नाजायज़ है । इस सरल-प्रकृति की किसी भी ऐसी उपस्थित जटिल स्थिति को यों निष्कर्षित न करो ।

–मैंने इधर कुछ कविताएं कश्मीर पर लिखी हैं और कुछ बेहद निजी । आपको किसी दिन सुनाऊंगी ।

दरअस्ल मैं जो कह रही हूँ, नहीं कह रही हूँ और वह जो सुन रहे हैं, नहीं सुन रहे हैं ।

–मैं बख्शती नहीं, लिख रही हूँ । पर छप नहीं रही, कितना बड़ा एहसान

है। वह हंस दिए। मैं बस में मोक्ष हुई और वह भीड़ में।

○○ ○○

कहते हैं मेला लगा है। हम मेले में कैसे जाएं। हम कुचले जाएंगे बंधुओं। वह वह नहीं जो लगा करता था सीर में। ज़िन्दा हलवाई सोपोर से आता था। उसका आना तमाम खुशियों और रौनक का आना था। सारे गांव में ख़बर फैल जाती कि ज़िंदा हलवाई मय कढाई के आया है। दौड़ कर सब बच्चे इस ख़बर की पुष्टि करने जाते। मानो वह इस भव्य-सरल समारोह का मुख्य अतिथि हो, उद्घाटनकर्त्ता हो। ज़िन्दा हलवाई ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष की शाम को चूल्हे के लिए सड़क की मिट्टी खोद रहा होता। आज से यहाँ से सब तांगों-घोड़ों का ट्रैफिक बंद। ज़िंदा हलवाई के तांगे का आना इस बात की अलिखित सूचना होती।

पास के गांव गुरसीर के मुसलमान बिसाती रंगबिरंगी परांदियों, चूड़ियों, रिबनों, अंगूठियों, नेलपॉलिशों के साथ आकर गांव की सुंदरियों का विराट केन्द्र बनते। सड़क के दूसरे सिरे पर मुसलमान हलवाइयों के चूल्हे दमक उठते। उल्लास एक लय में नाच उठता…यह भूलकर कि मेले का आह्वान किस धर्म ने किया। आनन्द ये सीमाएं लांघ कर सूर्य सा दमकता सबके मनों में…बुद्धि पर। वितस्ता के पार एक बड़ा सा चिनार शमशान-घाट में था। जो मेरे लिए तमाम रहस्यों का एक विराट प्रश्न था। वही अंतरिक्ष था। लगता था आगे दृष्टि सरकाएं तो जिसे समुद्र कहते हैं वही होगा। जिसे विश्व कहते हैं–मन की हथेली पर कायम। पर मेरे बड़े होने के साथ-साथ क्या होता गया। जहाँ समुद्र था…वह वहाँ से हट गया। वहाँ एक छोटा सा गांव आया। चिनार प्रश्न नहीं चिनार था। एक दिन ज़िन्दा हलवाई भी शाम को बहुत देर से आया। कोई बच्चा उसकी प्रतीक्षा ही नहीं कर रहा था। पर मैं उसकी प्रतीक्षा में थी……घोर-प्रतीक्षा में इसलिए…सारे-भय को धता बताकर गई देखने अंधेरे में भी…देखा ज़िन्दा हलवाई तांगे से सामान उतार रहा था। एक थरथराती हुई चिमनी तांगे पर जल रही थी। दूसरी नंदि के दीवार पर। मुझे अपार खुशी हुई। "मैंने खुशी को संभालते हुए धीरे-धीरे ज़िन्दा हलवाई की तरफ कदम बढ़ाए…"आपको आज देर हो गई।…चूल्हा नहीं बनाना।"

"नहीं बेटे…सामान बना कर लाया हूँ। चूल्हा क्या जलाना। हालात ठीक नहीं।" "हालात ठीक नही ?" यह महाप्रश्न। मेरे पास संसार की महान खुशी का समाचार, इसमें यह हालात का सुराख कैसे हो गया। 'चलो मारो गोली हालात को …ज़िंदा हलवाई आ तो गया। यह क्या कम है…।"

"–ऐ बच्चे तुम अंधेरे में यहाँ क्यों हो…किनकी बच्ची हो तुम…घर जाओ

भाग कर····जाओ बेटे ।" ज़िन्दा हलवाई बोल रहा था । मैं एक सांस में जो दौड़ना शुरू हुई सो घर जाकर दूसरी सांस ली और गला फाड़-फाड़ कर वीना से कहने लगी–ऐ सुन ज़िन्दा हलवाई आ गया ।"

"–बस तो फिर तेरा खसम आ गया ।" मैं बुझ गई । मोमबत्ती की तरह । वीना मुझसे एक वर्ष छोटी और बड़ी औरतों की सी बातें । सचमुच हालात खराब है । वर्ना ज़िन्दा हलवाई को देखने वीना भी तो जाती थी । ख़ैर····सुना है यह विश्व-स्तर का मेला है । मन करता है । मैं भी जाऊं । पर किसके निमंत्रण से । मुझे किसी ने निमंत्रण ही नहीं दिया । और इधर एक मुअतबर ने कहा कि मुझे फटकने नहीं दिया जाएगा । मेरी टांग तोड़ दी जाएगी । ज़िंदा हलवाई ! हालात तब क्या खराब शुरू हुए कि बस खराब ही होते चले गए । यह मेला वितस्ता के तट पर, नन्दि के प्रांगण में, सड़क पर नहीं····जहाँ स्वतः आमंत्रित थे सब । यह है विशाल महंगे सभागार में । वहाँ बिना निमंत्रण के कोई नहीं जा सकता । यह मेला लगता है अब भी । ज़िन्दा हलवाई ज़िन्दा है मुझमें । मुसलमान सुंदरियों से महक रहा है वातावरण । पर मैं कमरे को आर-पार देखते हुए सोचती हूँ । नहीं किसी को मुझे बुलाना नहीं चाहिए । दो मुझे भरपूर उपेक्षा, तिरस्कार, अपमान····मौन का प्रतिदान । मेरा हवा-पानी ।

OO OO

अखबार पलट लिया और जो देखा दिल धड़क उठा । ऋजु जागा तो मैंने अखबार सामने कर दिया । मैं चाहती थी कि वह नाच उठे पर उसे देख लगा जैसे वह कह रहा है "····माँ क्यों सुबह-सुबह मार खिलाती हो ।"

"कौन है ?" उसने कोई अनुक्रिया नहीं की । सिवाय अखबार को एक तरफ करने के । "वही अग्नि है ।" तिरस्कार पूर्ण ढंग से यह अधूरा नाम । यह तो सीमा तोड़ रहा है घृणा की ।

"ऋजु ! ····नहीं ऐसे नहीं बेटा···आखिर है तो तुम्हारा प्यारा पापा । चूमो । प्यार करो ।"

"ममी । प्लीज़ मूड खराब मत करो मेरा ।" उसने अखबार को सामने से हटाते हुए कहा मेरा एक पुराना निगेटिव हाथ में लेकर कहने लगा– "माँ इसका फोटो बनवा लो । इसमें आप बहुत सुन्दर लग रही हैं ।" मैं उसके पास से रूठ कर चली गई उसकी प्रतिक्रिया देखने के लिए और देखा उसने मेरे रूठने की रत्ती भर भी परवाह नहीं की । बल्कि उसे मेरी अनुपस्थिति से अच्छा लगा । अखबार तह करके अखबारों में फेंक दिया । मैं दौड़ कर आई और उसे टोका ।

"बेटा तुम्हें पता है कि अखबार मैंने अभी पढ़ा नहीं । तुमने ऐसा क्यों

किया ? "ममी मैंने सही किया बस ।"

"इसमें तुम्हारे पापा हैं···इसीलिए ? हैं तो तुम्हारे पापा ही ।"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता ममी । कुछ नहीं" और वह एक लम्बी चीख़ चीखा···ताकि मैं जो कहूँ उसे वह न सुने । हर तरफ की मार मैं खा रही हूँ ।

मैं बार-बार अखबार देख रही हूँ । शब्दों पर दृष्टि पड़ते ही फिसल जाती है उस चित्र की तरफ । फिर उठती हूँ । कुछ उल्लास···कुछ विषाद···कुछ ताप···कुछ फुहारें···अजीब गंदी बहार है जीवन की ।

थोड़ी देर में ठुमरी जाग जाती है । उससे पहचानने का प्रश्न न कर मैं चित्र उसके सामने रखकर कहती हूँ । "ठुम्मू देखो पापा···चूमो···प्यार करो ।" हे प्रभु ! यह क्या ? इस पिद्दी सी बच्ची को क्या हो गया । वह दोनों मुट्ठियों में अखबार रखकर उसे भींचती है और गेंद की तरह एक तरफ उछाल देती है । मैं उससे लगभग झड़प सी करती हूँ । –अपने पापा के चित्र को ऐसे करते हैं ?"

यह अन्तर्मुखी बाला गुस्सैल चेहरा बनाकर चुप रहती है । मैं दोनों से परास्त हूँ । और कहती हूँ–देखो फिर यह शिखा भी न पकड़ पाओगे···।"

मैं उसका भींचा हुआ अखबार ठीक करती हूँ ।···आँखों से कोई मवाद निकल रहा है जो इस पर जज़्ब हो रहा है । सोचती हूँ ब्रह्माण्ड के अंदर कितने ब्रह्माण्ड हैं । एक ब्रह्माण्ड सुर्खियों में आता है और दूसरा कालिमा में रहता है । यही है जगत में जीव का सत्य ।

मैं पूरा अखबार दुरुस्त कर किताब की तह में रख लेती हूँ । इस ख़बर के अतिरिक्त आज कुछ नहीं पढ़ती । बच्चों के व्यवहार ने हिला के रख दिया है ।

सरला पूछती है–"आज अखबार नहीं लाई ।"

"नहीं···हाँ मैं जानती हूँ···देखा ।" मैं जानती थी उसका अभिप्राय ।

"सभी अखबारों में था ।"

"हाँ···"

"मैं चुप हूँ···विचार शून्य ।"

OO OO

कुछ लोग मुझसे सवाल कर रहे हैं । चुप-सवाल । कि विश्व सम्मेलन में मैं क्यों नहीं थी । मैं भी सवालों का सवाल बनकर गुज़रती गई । इंदु के विषय में इंडियन-एक्सप्रेस से तफसील का पता लगाना है । मंगलेश जी को कागज़ पकड़ाए । उनके सामने और बने रहने में कोई तुक नज़र न आई ।

"आप नहीं गई थी ?"

"नहीं।"

"उसने आपसे सम्पर्क नहीं किया ?"

"नहीं। अब वह बहुत बड़ा आदमी है। मैं बहुत पीछे रह गई हूँ। मैं अब छुप-छुप कर जी रही हूँ। इतने बड़े आदमी के सामने अब डर भी बहुत लगता है।"

"क्या कह रही हैं····इन चीज़ों से बड़ा हो जाता है आदमी ?"

"हाँ, जो बड़ा होने के लिए जिस तरह का संघर्ष करता है वह उसी से बड़ा होता है····इधर जीने के लाले पड़े हैं ऐसे बड़प्पन से आँखें ही दो चार क्यों करूं।" उन्होंने प्रश्नवाचक मुद्रा ओढ़ी।

"आप ?"

"मैं कविता-93 में व्यस्त रहा। एक मलयालम कवयित्री अद्भुत लिखती हैं।"

"अच्छा !" मैं उड़ रही हूँ। जैसे मैं ही क्षण भर थी वह मलयालम कवयित्री। "मैं आपको कविताए दूँ ?"

"मैं आपकी क्रूरता जानते हुए भी बार-बार आपको कविताएं देने का दम रखती हूँ।" वह हंस दिए।

"मैं····मैं······क्रूर क्या कह रही हो।"

"जो मेरा प्रिय होता हैं वह मेरे प्रति क्रूर होता है····क्या करें····मगर मैं भी उनकी क्रूरता के प्रति क्रूर ही रहती हूँ····।" मैं चलना शुरू करते हुए बोल रही हूँ।

"मैं दफ्तर से भागी हूँ चलूं ?"

वह अपनी सीट से खड़े हुए बेतहाशा हंसते हुए। 'क्यों हंस रहे थे ?' इस प्रश्न को लेकर मैं कूच कर गई। कहीं मेरे शब्दों का उन्होंने कोई दूसरा अर्थ तो नहीं लगाया। सदा मुझे उनकी 'प्रेम करती हुई स्त्री' याद आती है जो मेरे भीतर उतर गई थी····जिसकी कॉपी श्रीनगर में ही रह गई थी।

नए दफ्तर से यहाँ पहली बार आई हूँ····समझ में नहीं आता वापस कैसे जाऊ। अरे यह क्या ? मेरे पास टका भी नहीं। वाह ! तो क्या करूं ? मैं खाली गाड़ियों को बड़ी लालच से देख रही हूँ पर मेरा किसी भी बस से सफर करना चोरी के समान है। पर चारा भी क्या है। अंततः एक सरकारी बस में मैं स्वयं को डाल देती हूँ। कुछ भी हो सकता है। जुर्माना भी, जेल भी। चलिए देखते हैं। मैं मगर ऊहापोह में हूँ। मनुष्य बड़ी-बड़ी बातें और छोटे-छोटे अपराध इन सबका जंगल उगाता रहता है। बाराखंबा पर मैं बस से ऐसे उतर गई मानो किसी की जेब सफाई से काटी हो।

OO OO

हिमा दो दिनों से मुझसे नाराज़ है। उसके स्वास्थ्य की चिंता है। कल फ़ोन पर उसने जो धन्यवाद दिया वह कील सा चुभ गया भीतर गहरा। और बराबर पीड़ित करता जा रहा है। उसने फ़ोन भी नहीं किया। इसके क्या मानी हैं। हिमा, माँ और पापा तीनों मिलकर मेरी प्राण वायु बनाते हैं।

शरण लिंबाले को दिन में पढ़ा था। सत्य की धधक से झुलस-सी उठी हूँ। सत्य को झेलना आसान नहीं इसीलिए असत्य का चलन है। शरण तुम जारज थे.... पर मेरे बच्चे न जारज हैं, न दलित। तब भी उनसे उनके पिता ने ऐसा सुलूक किया मानो वे उसके न हों। उनकी पैदाइश सिर्फ़ मेरा जिम्मा था उसका उन क्षणों आनन्द भोगना।

हिमा का कंधा मेरे कंधे से पहले ही लगा था कि जैसे वह आ रही है बहार सी। सच निकला। मैं सड़क पर ही उससे लिपट-सी गई। "–नाराज़ हो मुझसे ?" उसकी दिव्य मुस्कान से मन की सारी चिंता धुल गई। ठुकी कील उखड़ कर निकल गई। मुझे राहत मिली। वह कुछ न बोली।

"अब तबीयत कैसी है ?"

"अब कुछ ठीक हूँ।" (मैं अंधेरे का लाभ उठाते हुए शाल के छोर से अपनी आँखों का गीलापन खुश्क करती जा रही थी।) मैं जानती हूँ बच्चे खुशी से आज नाचेंगे। वे इसी के, माँ-पापा के प्यार से ही तो अपना शून्य भरते हैं और सफ़र तय करते हैं। फिर भी शून्य पूरा का पूरा बना हुआ है।

OO OO

बच्चे उल्लास की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। मौसी के आगे पीछे घूम रहे हैं। झूम रहे हैं। मैं दफ्तर की तैयारी कर रही हूँ। संताप से घिरी। ऋजु कहता है–"मौसी हमें बाल-मेला दिखाएंगी....।" "मौसी को ऑफिस नहीं जाना ?" मैंने आँखें तरेरी। "तुम जब इनके पिता के बारे में सोचती हो....इनके लिए प्यार कम तो नहीं होता ?"

"नहीं उल्टा ज्यादा होता है। तीव्र। क्यों ?"

"बस यूं ही पूछा।"

"नहीं तुम्हारे मन में ऐसा प्रश्न क्यों आया ?"

"आया....बस....देखो उसने तुमसे जीवन में इतना बड़ा विश्वासघात किया....उसी के ये बच्चे....?"

"उसके किसी भी प्रकार का होने में इनका क्या दोष। बचाना है इन्हें वैसा

होने से····।"

वह मौन है जैसे कह रही हो 'क्या औरत हो तुम ।' और मुझे लगा मुझे उसे अपनी हकीकत ज्यादा अच्छी तरह समझानी है । यह इतफ़ाक न करे पर समझ तो जाएगी । "वास्तव में मैं भी उससे प्यार करती हूँ····।"

उसने 'हूं'····कहके एक तीव्र झटका दिया खुद को और व्यस्त किया स्वयं को बच्चों के साथ । जैसे कह रही हो 'यह वही लिजलिजी भारतीयता, बेचारगी, लाचारी है बहन जी और कुछ नही ।" ख़ैर वह कुछ भी समझे पर उसे मेरे पति-प्रेम पर घृणापूर्ण आश्चर्य है ।

OO OO

काफी दिनों बाद सपने में घर देखा । कहते हैं प्रिय लोग, स्थान सपनों में आने से पूर्व भी ढेरों मित्रतें करवाते हैं तब कहीं झलक दिखाते हैं ।

तेज़ रोशनी में प्रकाशमान घर । पुष्करनाथ अपनी सधी तर्ज़ से अपने घर के बरामदे से हुक्का गुड़गुड़ाते हुए हमारे घर की तरफ देख रहे हैं । जैसे कह रहे हों····अच्छा तो आ गए आप भी अंततः । हम तो आप से पूर्व ही आ गए थे न ?"

मैं बरामदे में सोच रही हूँ देखो आज तक कितनी बार घर आई सिर्फ़ सपनों में । आज सपने-वपने में तो नहीं आई हूँ न । अब तो सचमुच आ गए न हम । सामने की बोबा चरखा कात रही है । उससे होंठों की उठापटक से ही बहुत सारी बातें कर रही हूँ । उससे उसका कुशल क्षेम पूछती हूँ, सोचती हूं न जाने इनको भी कितने सपने आए होंगे हमारे कि हमारे अंधेरे कमरे रोशन हैं । नल बह रहा है । सीढ़ियों से कोई चढ़ रहा या उतर रहा है । दरवाज़ा खोल कर कोई अंदर आ रहा या बाहर जा रहा है····या अंदर बच्चे कूद रहे हैं····माँ प्रार्थना कर रही है ।···· मैं बर्तन माँझ रही हूँ····भाभी खाना पका रही है····चिमनी से धुंआ निकल रहा है····। क्या-क्या नहीं आता रहा होगा उनके सपनों में····जलते रहे होंगे उनके भी मन । सपनों में भी जिसका सपना आता था उसी में सचमुच आ गई हूँ । बंदूक खत्म । सिर्फ़ एक सहम है । जीवन लौट कर आ रहा है ।

OO OO

किशोरी कौल की चित्र-प्रदर्शनी के बहाने आई हूँ । इंद्रजीत से मिलना था । हिमा आजकल बहुत तीखी स्मृति लकड़ी पर उकेर रही है । 'स्कल्पचर कोर्ट' से अद्‌भुत तीखी गंध आती रहती है । इस गंध के लिए मैं कभी-कभी पागल हो जाया करती हूँ । मिट्टी की अनोखी-अद्‌भुत गंध । ज़रा सी मिट्टी मुँह में डाल कर चैन आता है, दिमाग ठिकाने आता है । मिट्टी ! तुम्हारा स्वाद संसार के तमाम स्वादों को मात करता

है। तुम्हारा खुमार संसार के तमाम खुमारों से महान है। मैं हिमा की नज़र बचाकर दो चार टुकड़े अपने बैग में डालती हूँ। उसने देख लिया तो बिगड़ जाएगी। कहेगी दीदी ! मर जाओगी। तुम्हारे छोटे-छोटे बच्चे हैं····जिनकी तुम्हीं सब कुछ हो। हिमा ! तुम इस मिट्टी से मूर्तियां गढ़ रही होती हो तो ईश्वर-सी एकाग्र होती हो आनन्द के स्वाद में डूबी। मुझे वह आनन्द इसे मुँह में डालकर मिलता है। मैं क्या करूं ?

OO OO

'कश्मीरी संगम'। एक नया नाम। नया झण्डा। नया मंच।

मुख्यमंत्री रो पड़े। कुछ दिन पूर्व मंच पर एक अभिनेता भी रो पड़ा था। प्रभु जानते हैं कि ये लोग खुशी से रो पड़ते हैं या ग़म से। सत्ता में ग़म काहे का। क्या पता ये क्यों रोते हैं मंच पर। हम सोचते हैं ये हमारे रोने का प्रतिनिधित्व करते हैं और एक-डेढ़ मिनट में ये होश संभालते हैं। इधर-रोते-रोते जीवन बीते पर होश रखना ही पड़ता है क्योंकि हमारे होश लौटाने में हमारी मदद करने वाला कोई नहीं। हमारे दुःख पर रोने वाले कौअे। मुँह का कौर हड़पने वाले कौअे। हमको यह सराहना देकर कि तुमको वाकई अद्‌भुत किस्म का ग़म मिला है, आंसू मिले हैं। रोते रहो····रोना बंद न करना। हम तुम्हारा रोना अंतरराष्ट्रीय मंच पर रोयेंगे। अंतरराष्ट्रीय समुदाय को दिखाएंगे रो कर। हम इसी में दिन गुज़ारी कर रहे हैं। जियो····जियो····चालाक कौओ····गिद्धो। तुम इस ब्रह्माण्ड का एक अनिवार्य हिस्सा हो। जियो।

सहमत वालों का शामियाना शानदार। बुद्धिजीवी भी शानदार। अंदर सुना था 'मन मस्त हुआ कब क्यों डोले····' यहाँ गूंज रहा है 'मन लागो मेरे यार-फकीरी में······। न वे मस्त हैं न ये यार–फकीरी में लगे। दोनों कबीर को खींच रहे हैं। यह उसकी साधना का ऊंचा प्रकाश है जो एक ही धर्मिता से दोनों पर पड़ रहा है। ललद्यद के अंतिम संस्कार में भी दौड़ कर आए थे सब समुदाय कि लल उन्हीं के समुदाय की है दावे के साथ। यह लल की साधना थी। बड़ा होना सूर्य होना है। बड़ा होना ऊपर-ऊपर उठना, ऊंचाइयां मापना है। मुझे रामकृष्ण परमहंस की बात स्मरण हो आती है– ईश्वर की सभी महान विस्मयकारी चीज़ें अत्यंत चुप हैं और चुपचाप हमारे जीवन में आकर हमारी जीवंतता बनाती हैं जैसे ऊषा, उपवन, गंगा और अन्य, अनेक, असंख्य।

बुद्धिजीवी भारत में विचारधारात्मक परिवर्तन की चिंता को शब्द दे रहे हैं। हाल में हुए चुनाव नतीजों से फिर भी राहत की सांस ले रहे हैं। बी.जे.पी. को खूब

गालियां और कांग्रेस कुछ नहीं से कुछ भला, या डूबते को तिनके का सहारा। बी.जे. पी. सख़्त पोर्नोग्राफी और कांग्रेस नर्म पोर्नोग्राफी। ज़ाहिर है सख़्त से नर्म ही वरेण्य है। इसी तिनके को चुनेंगे।

एम.के. रैणा की बातों से कश्मीरियत टपक रही थी पर उनके चेहरे पर कोई संकट पारदर्शी है। दरअस्ल यह संकट सांस्कृतिक, बौद्धिक संकट चल रहा है। संकट कभी मोटा दिख जाता है कभी महीन। रेडियो की मैजिक आई की भांति।

'मन लागो मेरो....' समाप्त हुआ। रैणा दौड़कर मंच पर जाते हैं। डागर बंधुओं के गायन की घोषणा करने। मैं श्रीराम सेंटर जाती हूँ।

पुस्तकें देख रही हूँ। रॉशोमन का नया सुन्दर संस्करण आया है। मन प्रसन्नता से झूम उठता है। हिमा का नाम देखती हूँ। पास खड़ी महिला से कहती हूँ 'अनुवाद मेरी बहन का है।' वह अच्छी अनुक्रिया देती है पर मुझे लगता है तत्क्षण कि मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था।

जाने के लए चल पड़ती हूँ। रैणा रोकते हैं। 'रुको भी मैं बिल्कुल व्यस्त नहीं।" रैणा फक्कड़ से दिखते हैं पता नहीं हैं या नहीं। कहते हैं– 'एक दिन कश्मीर ज़रूर ठीक हो जाएगा.... जैसे पंजाब हो गया।' मुझे लगता है कि वह स्वप्न की बात नहीं कहते वह आगामी वास्तविकता बता रहे हैं। बोले–'इक्यानवे की जुलाई में मेरा दोस्त गया था। पहले दिन बुलवार्ड घूमा तो थोड़ा डर उसका कम हुआ। दूसरे दिन शहर के अंदर के इलाकों में गया तो मुजाहिदों ने रोका।

"तुम्हारा नाम ?"

"रवीन्द्र कौल।"

"हैण्ड्स अप।" उसने हाथ ऊपर किए। जीवन की आशा छोड़ी तो अगले ने उसे सटकर गले लगाया और रो पड़ा। मेरे चश्म भी भर आए। पानी से। प्रश्न से। रैणा ने बात करते हुए अपने नाटककार का भरपूर इस्तेमाल किया। मैं सोचती रही कहीं यह रैणा की कल्पनाशीलता की बानगी तो नहीं। मगर यह सत्य भी हो सकता है निस्संदेह। ईश्वर करे यह सत्य हो।

OO OO

शरण लिंबाले की आत्मकथा पढ़ रही हूँ। माँ का मार्मिक प्रसंग है। सच शरण ! पुरुष तो पान की तरह जितना थूके पर तबाह हो जाती है स्त्री, बच्चे। शरण कवि है। अलाव का ईंधन। अपने ईंधन को जलाते हुए स्वयं-प्रकाश। आदमी को कवि कौन चीज़ बनाती है ? अनुभवों की चौड़ी छाती या अनुभवों के प्रकाश में कल्पना का विस्तार ? सत्य का संताप आखिर क्या ?

दिन कैसे बीत रहे हैं ? पत्थर हुए मैल की तरह। कभी लगता है कि गनीमत है कि बीत रहे हैं। इतने दिन तो चोरी से जी ही लिए जैसे-तैसे। दिन उस गरीब की तरह बीत रहे हैं जिसे रोटी के लाले पड़े हों पर लाटरी की भी लत पड़ी हो··· कि न जाने कब दिन फिरें।

OO OO

और 'अक्करमाशी' पूरी हुई। भयानक 'सफरिंग' से गुज़री। अपनी सफरिंग से शरण की सफरिंग टकराती रही। जहाँ ऐसी भयंकर टक्कर हुई। मैं रूक गई, थम गई। विषयांतर किया। दम घुटने का भय लगने लगा। सांस लेने के लिए भरपूर संघर्ष किया।

'अक्करमाशी' समाप्त हुई। एक तसल्ली है। जब इसके अंत तक पहुँच रही थी तो मन चाह रहा था कि यह पुस्तक समाप्त न हो। ज़ाहिर है पुस्तक जहाँ समाप्त हो रही है शरण की सफरिंग वहीं तक नहीं है। प्रश्नों की एक अंतहीन पर्वत शृंखला पर पहुँचाकर अंततः शरण ने पुस्तक को बंद कर दिया।

पूरी सफरिंग के दौरान दादा प्रायः खो जाते, मैं खोजती रहती। गौण में दबा एक प्रमुख चरित्र। जहाँ कहीं खोजा जाता मैं भीड़ में घुस कर उसे खोजती और ढूंढ ही लाती। दादा तुम मनुष्य हो। मनुष्यत्व का प्राण। तुम कहीं खोना नहीं। गुम नहीं होना। शरण की तरह ही दादा भी मेरे अपने हुए। सघन। नायक की भांति। जीवंत। डर रही थी। कहीं दादा के साथ कोई अनिष्ट न हो। यह अनिष्ट रचनाधर्मिता, धर्मातीतता का होता। सत्य इतना ज्वलंत होता है। इतना प्रखर ! कि जितना शरण कहते हैं।

शरण बेटे का नाम अनार्य रखते हैं। सम्भवतः प्रतिक्रिया के मारे। उसे चिंता है कि देहावसान पर दादा का क्रिया कर्म कैसे किया जाए ? हिंदू पद्धति से ? या मुसलमान ढंग से ? पर मेरे लिए यह चिंता का कोई विषय नहीं है। शरण ! ऐसे मनुष्य मरते नहीं परमहंसत्व को सम्मानित करते हैं।

भा.भा. कहते हैं दलित साहित्य के साथ एक विचित्र ट्रैजेडी है कि एक ही कृति में ये लोग समूची ऊर्जा उंडेल कर रख देते हैं। दूसरी के लायक ही नहीं रहते। कारण है न बंधु। कारण है। गैर दलित सत्य की धज्जियां उड़ाता हुआ कल्पनाएं करता जाता है।····कृतियों पर कृतियां बनती जाती हैं। प्रतिभावान का झूठ भी तो घातक है····सामान्य झूठ से। ये लोग असत्य की होली खेलना चाहते हैं अर्द्धसत्य की धज्जियां उड़ाते हुए सिर्फ़ सत्य दिखाना चाहते हैं····जिसे सिर्फ़ वे जानते हैं····उसी तरह

जिस तरह ब्रह्मानन्द को एक परम योगी ही महसूसता है ।

OO OO

श्रीराम सेंटर । कॉफी हाऊस से पैदल चलकर आई हूँ । आजकल कड़ाके की ठंड है । किसी के होने से लग रहा है जैसे कोई अनावश्यक दख्ल दे रहा है, मेरी चिंताकुलताओं में । कुछ किताबें पलट कर देख ली । कुछ पुस्तकों को देख मन प्रायः ललचाता है, प्रायः मेरी जेब खाली होती है । मैं अक्सर इन पुस्तकों को उलट-पलट लेती हूँ । दुकानदार भी अब मुझे जानता है और उसे पता है कि मैं कभी पुस्तकों को खरीदती नहीं । पर फिर भी वह उदारमना है ।

'कोई एक खरीदने लायक जेब नहीं हो रही' मैंने कहा । तो वह हंस दिया । इस संसार को अभी काफी जानना-बूझना है पर जानने बूझने के लिए भी धन चाहिए । यों ही मुर्दे के मुंह में नौका-किराए का टका नहीं रखा जाता···और यह व्यवस्था लगभग हर धर्म में है। पैसा-पैसा···पैसा ही गति है शायद···ख़ैर···मेरा मन तो यार-फकीरी में लगा है···।" मैं अपनी पीठ नाहक थपथपाती रहती हूँ···उन पागलों की तरह जिन्हें अपना आप सबसे बेहतर पथ पर लगता है और···परम-तुष्ट होता है । चिंता होती है तो शेष-दुनिया को उस पथ पर ले जाने की । चिंता वाला हिस्सा मुझमें नहीं है, वर्ना हूं मैं उसी अज्ञात की सहयोगिनी । डेरे पर सात बजे पहुँची । मां कुछ खिन्न थीं । ठुमरी की शैतानियां काफी विस्तार पा रही हैं । मैं भीतर तक गद्‌गद् हूँ । यह शरीफज़ादी तेज़ हो रही हैं । मन-प्रसन्न है । बंदरिया सी नानी-नाना के कंधों पर से कूदती-फांदती । कुछ बातें मानती है, कुछ नहीं । अपने मानने में भी दृढ़ और न मानने में भी दृढ़ । मेरे प्यार से उसका आत्मविश्वास सिलवटें खोल लेता है । कितने सुख की बात है, मैं उसकी मां हूँ । प्रभु तुम्हारा कोटि-कोटि धन्यवाद । मन अनायास संसार की तमाम खुशियों से अंट पड़ता है, भण्डार की तरह । भाई उसे कंधों पर उठाता है और कहता है– "ममा । यह ठुमरी बड़ी प्यारी हो गई है···ममा देखो ।" मैं हंसते हुए भृकुटियों को खींच कर उन्हें अपने-अपने बस्ते खोलने को कहती हूँ ।

OO OO

वह गोरा सा लड़का फिर मिला । वह कहीं न कहीं मिल ही जाता है । उस दिन मिला था तो कहा था 'प्रापर्टी डीलिंग' कर रहा हूँ । फिर एक दिन मिला तो बोला 'इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय में 'किसी' प्रोजेक्ट पर काम कर रहा हूँ ।' आज फिर मिला तो बोला 'उस आंदोलन' के लिए काम कर रहा हूँ ।' हर बार वह कोई न कोई नया काम कर रहा होता है । हर बार वह पहले से ज़्यादा मस्त, स्वस्थ दिखता है ।

आज उसमें कुछ 'मद' भी है । 'उस आंदोलन' के नेताओं ने उसे भी घूंट भर पिला ही दी है । ज़ुबान-कुछ दराज़ सी हो गई है ।

"–आप नहीं थीं वहाँ······आप तो मेज़मान थीं ।" उसने पूछा ।

"अगला कार्यक्रम क्या है ?" मैंने पूछा । "कार्यक्रम बहुत सारे हैं । आपको पता नहीं ? सारी दुनिया जानती है । विश्वविद्यालय बनने जा रहा है । आप ज्वाइन नहीं करेंगी ?"

"–क्या ?"

"–यूनिवर्सिटी ?"

मैं बेलाग हंस दी । "हाँ क्यों नहीं ।" वह चार साल पहले जैसा था वैसा ही है । कोई विकास नहीं ।

"–कहाँ बनेगी ?"

"–मुझे क्या पता ।"

"–कौन बनाएगा ?"

"–वे ही ।" (नेता)

"–तुम क्या करोगे ? तुम्हारा क्या काम है ?"

"–बताएंगे 'वे ही' । हमें क्या । हम तो बंदूक उठाने वाले हैं । हुक्म उनका ।"

"–खुदा खैर करे मेरे भाई ।"

"–समाज को एक नई दिशा मिल रही है ।"

"–अच्छा ?"

"–हाँ, समाज हिल रहा है आंदोलन से ।"

"–अच्छा जी ।"

"–हाँ और क्या ?"

"–यूनिवर्सिटी वतन से बाहर नहीं, वतन में बननी चाहिए । पहले हुक्मरानों से वतन का रास्ता बनाने को कहो फिर यूनिवर्सिटी बनाना । क्यों ऊर्जा बरबाद करते हो । हवा की गठरियां बनाते हो ?"

"–मुझे क्या, मेरे लिए 'उनका' हुक्म ।
मैं और क्या जानूं ।"

जीने का यह लहजा भी आरामदायक कम नहीं । पता नहीं अगली बार जब यह मिलेगा तो क्या कर रहा होगा । यह हमारी भ्रष्ट पीढ़ी का नुमाइंदा या अकेला ऐसा ? उस 'फ्रॉड' को टिकाने के लिए बनाई गई दीवार की अदना सी···ईंट···क्योंकि

कभी समूची को गिराने के लिए स्वयं को गिरा सकती है। आंदोलन मात्र एक शब्द। एक अर्थ-निचुड़ा शब्द। समूचे को छोड़ वे एक टुकड़ा चाहते हैं। सब टुकड़ा-टुकड़ा चाहते हैं। टुकड़ा-टुकड़ा वृत्ति बढ़ रही है इस देश में। समग्र, अखण्ड, सम्पूर्ण की वृत्ति समाप्त हो रही है।

OO OO

उस धड़े के लोग मिले। बुझे-बुझे लोगों की असफल महत्वाकांक्षा। 'ऑफ्टर थॉट' की तरह चल रहा 'आंदोलन।' सुदूर-भविष्य से बहुत दूर, असम्भव और विभाजन वृत्ति से भरा लक्ष्य। वर्तमान ? वर्तमान की किसी भी माँग को वे 'टुच्ची' बात कह कर धिक्कारते हैं। यानी वे उनको धिक्कारते हैं जो खा-पी नहीं रहे। मज़े की स्थिति में उनका विचार (आंदोलन) नहीं समझ पा रहे। टुच्ची सी दैनिक ज़रूरतों मसलन शायद बच्चों की किताबें, (जो जुटाना कठिन है) बच्चों की फीस, भोजन, पानी, कपड़ा, बस इन्हीं टुच्ची सी ज़रूरतों पर मरे जा रहे हैं। कहते हैं 'हम' तो 'आंदोलन' हैं ये 'टुच्चे काम' ये 'समितियां' आदि तो कर ही रही हैं। 'हम' 'बड़ा काम' कर रहे हैं। स्वघोषित 'बड़ा काम।' स्वयंभू 'बड़े नेता।' उफ् आतंकवाद की यह सरकण्डे की पैदावार।

"–हमारे अंदर जो टैम्पो नब्बे के साल में था, बुझ गया। ज़रूरत है उसे फिर से पैदा करने की।" एक कहता है।

"–हमें जाना तो अपने कश्मीर है, यह तय है ?" दूसरा मानो तौल के मोती बिखेरता है। जन्मभूमि छोड़ कर आए जिस समुदाय के लिए जन्मभूमि वापस जाना है अथवा नहीं– यह विवाद का विषय हो, उस समुदाय के लिए क्या कहें। क्या वैचारिक स्थिति होगी 'उनकी'। सहस्रों वर्षों पूर्व निष्कासित कौम के लिए भी जन्म भूमि में लौटना निर्विवाद होता है। हम अभी-अभी तो निकाले गए हैं। प्राण वहीं नहीं छूटे हैं क्या हमारे ? कम से कम अपने प्राण तो खोजें, प्राणों में तो लौटें, नेता ये कैसी बातें कर रहे हैं।

ये नेता जब एक साथ बैठकर आपस में अपनी उपलब्धियों को गिनना शुरू करते हैं, हाथ में कैंचियां, ब्लेड लेकर अखबारों की कतरने बनाते हुए, इसी मुख्य उपलब्धि पर ज़ोर डालते हैं, 'लोगों को वापस जाने को राज़ी किया···हमने किया न ?' कैसा काला भ्रमजाल है। अरे लोग तो गठरियां बांधे बैठे हैं अपने ज़िस्मों की भले ही मरने के लिए ही जाना हो···जाएंगे···फक़त रास्ता बता दो, पर तुम तो समस्या का केंद्र ही गलत बिंदु पर इंगित करते हो। गरीब आदमी माथा पीट रहा है। अपनी स्थिति के लिए, इन नेताओं के लिए, मातृभूमि के लिए, सरकार के लिए इस पूरे भ्रमजाल में

फंसे। कतरनें उनकी बयानबाज़ी की होती हैं, लफ्फाज़ी की होती हैं।

OO OO

रात भर माँ दर्द से कराहती रही। सुबह वह बैठी थी। मैंने कांगडी उठाई, ताकि सुलगाऊं। कोयले भीगे हैं। रोज़ प्रेस– वाला जब काम खत्म करके अपनी प्रेस झाड़ता है तो कोयलों पर ढेर सारा पानी छिड़क कर उन्हें बुझाता है। पहले उन्हें झाड़ू से सरकाकर नाली में फेंक दिया करता था पर अब जब से मैंने कोयले वहीं रखने का अनुरोध किया है वह कोयले बुझाकर वहीं रख देता है। फिर मैं या पापा उन कोयलों को लिफाफे में समेट कर लाते हैं। चूरे में कुछेक बड़े-बड़े कोयले भी होते हैं। इनको छांट कर चूल्हे पर रख देते हैं। यह पुराना जन्म जीने की एक चोर-कोशिश भी है न ? कांगडी अंगारों से दहक उठती है···बिना दूल्हे की दुल्हन जैसी।

मकान मालकिन इन क्षणों मुझे व्यंग्य की मुस्कान और तन्मय दृष्टि दोनों से देखती है। उसकी तन्मयता के साथ एक सम्पूर्ण व्यंग्य यदि मैं न समझूं तो कौन समझे भला। पर मैं जानती हूँ उसके इस व्यंग्य को नाकारा बनाना। घर की मालकिन है···किराएदारों पर न हंसेगी तो भला किस पर···फिर उसकी मुस्कान है भी गज़ब की अतः व्यंग्य में भी मुझे सुन्दर ही लगती है।

"इतनी सर्दी तो नहीं ?" आखिरकार वह कह ही देती है।

मेरी समझ में नहीं आता कुछ कि क्या उत्तर दूँ। कुछ देर चुप रहती हूँ, मुस्कुराती हूँ। बहुत कुछ कहना चाहती हूँ उसे। पत्थर-सा मौन मुँह में साकार हो उठता है। आँखें कुछ बरसाती-सी हैं कोहरा-नुमा। मन के मैदान में गिरी ढेर सारी बर्फ में ठिठुर उठती हूँ। एक दीन-हीन ठिठुरन।···कितनी बर्फ है। पर हाथ ही नहीं कि बर्फ उठाऊं और आदमी बनाऊं···इस शारदा देवी पर इतनी फेंकूं कि प्रार्थना करे कुछ क्षणों के लिए मुझसे दहकती कांगडी माँगे। क्या करूं ?

माँ का हाल पूछती हूँ। "–तू काम पर चली जा, जैसे-तैसे मैं इनके लिए चावल पका ही लूंगी।"

"ठीक है माँ···राजमाश और शलगम मैं बनाकर जाऊंगी···।"

ऋजु को कितनी अच्छी लगती हैं राजमाश और शलगम की सब्ज़ी···बिल्कुल अपने पिता की तरह। उसकी इस पसंद से मुझे प्यार है।

"माँ बर्तन सारे रहने देना, मैं आकर माँझूंगी।" मैं उसे दहकती हुई कांगडी पकड़ाती हूँ।

बस स्टॉप पर कमल कुमार मिला। पाँच बजे सायं दूसरे धड़े की बैठक कॉफी हाऊस में है।

"आ रही हैं न आप ?" उसने पूछा एक प्रत्याशित प्रश्न।

"माँ बीमार है...पहले गृहस्थ हैं न ?" पता नहीं उसे कैसा लगा। पर बड़ी .शियारी से बात का विषय बदल..।

"–आप एक दुपहिया खरीद लीजिए।"

"–यहाँ ? इस .शहर में ?...इन हालात में ?"

"–पहले होती थी जीवन के साथ खूब बल्लेबाज़ी किसी भी क्षण जीवन से आउट होने के लिए तैयार रहती...पर अब एक दिन के बुखार की छुट्टी की भी छूट नहीं...मरना तो दूर...मैं अचानक मूल्यवान हो उठी।"

"–वाहन रहे तो आदमी ज़रूरी बैठकों में भी जा सकता है न।"

"–बच्चों के बीच होने से ज़रूरी बैठक और कौन है बंधु।"

"–कभी-कभी बातों से हिला कर रख देती हैं आप।"

"–अच्छा।" शायद मैं उसके प्रशंसा शब्द से फूली न समाई। चाहा वह मेरी प्रशंसा खुल कर करे इसलिए कहा–

"–सो कैसे ?"

पर बस आ गई। मैं प्रशंसा से वंचित रह गई। मेरे भीतर उसके प्रशस्ति वाक्य का टेप बराबर बज रहा है...और मैं अथक स्वयं को सुना रही हूँ। मनुष्य अपना पक्षधर न होता तो फिर...सो तो होगा ही...यही तो होता है...पाप उसे है जो कोई झूठी प्रशंसा करे...मुझे क्या पाप है इसे सच मानने में।

पर उन क्षणों की स्मृति ने मेरी आत्मा के कान उमेठ कर मुझे निर्दय ढंग से पटक दिया। जब ऋजु बहुत ज़्यादा बीमार हो गया था। उसकी बीमारी की पुनरावृत्ति ने मुझे लगभग पगला दिया था। माँ ने कहा था– कहीं से कहवे की पत्ती मिलती शायद इसे आराम आता। उसकी पसलियां बहुत अधिक चल रही थीं। सांस लेने के लिए उसे घोर संघर्ष करना पड़ता। उन्हीं दिनों जांघ पर ऑपरेशन भी हो गया था। मुझे कमल कुमार का ध्यान आया था। मैं उसके घर से कहवे की पत्ती ला सकती हूँ। उसकी बेहद सुन्दर बहन ने मेरा परिचय अपनी माँ से कराया– "यह 'उनकी' पत्नी हैं।" मैं हक्का-बक्का रह गई। उसके मन की सतह पर असंख्य प्रश्न आए होंगे उसी तरह जिस तरह खील का एक दाना पड़ते ही मटन के नाग में मछलियां आती हैं। मैंने सोचा शायद इसने मुझे जान के ज़लील-सा किया। मुट्ठी-भर कहवा पत्ती दी और एक ताना भी। मैं बाहर आई। सोचा उन सारी मछलियों को अपना-अपना दाना मिला होगा। सही-सही उत्तर। वे शांत तह में चली गई होंगी एक विस्मय-स्वाद के साथ। नेता की पत्नी और बच्चे की बीमारी में लोगों से कहवा पत्ती माँगती फिरती। पर वह

बेचारी मुझे जानती ही उसी रूप में है। उसने सदाशयता से ही मेरा परिचय कराया यों। मैंने स्वयं को समझाना शुरू किया। दुःख आदमी को ज़लील करता ही है। दुःख में आदमी छोटा होता ही है····छोटी-छोटी बातें करता है और छोटी-छोटी बातों का पहाड़-सा बुरा भी मानता है। दुःख से जब किनारा दिख जाता है तो लगता है बड़ी-बड़ी बातें करने। दुःख में उसे सब अपने नेता लगने लगते हैं, सब माई-बाप····दुःख को समझते ही वह स्वयं अपना नेता हो लेता····सारा ज्ञान किसी न किसी तरह बघारने के अवसर की ताक में रहता है।

OO OO

मुझे गीता के पास जाना है। सारा काम खत्म कर मैं जाने की तैयारी में हूँ। कपड़े बदलने हैं। पापा बैठे हैं। प्रायः मुझे इन क्षणों में गुस्सा भी आता है। पापा को समझदार होना चाहिए। कमरे से बाहर निकल कर मुझे एकांत देना चाहिए। मैं कपड़े कहाँ बदलूँ–यह सोचना चाहिए। सोचती हूँ कितने कमअक्ल होते हैं पुरुष। कम अज़कम मेरे आस-पास।

मैं कपड़े बाहर खुले में बदल रही हूँ। इधर-उधर और ऊपर आसमान को देखते हुए। मेरे विश्वास में मात्र आसमान मुझे देख रहा है, और कोई नहीं। मैं कपड़े बदलकर कमरे में आती हूँ। माँ के कपोलों पर आंसू हैं। क्यों ?

वह फिर घर को याद कर रही है। जो हमारी लाज ढकता था। आसमान भी हमें निरवस्त्र नहीं देख पाता था। मैं खुले आसमान को बंद कमरा मान कपड़े बदल रही हूँ क्योंकि कमरे में बूढ़े पिता हैं। मैं इस आसमान को अंधा मानती हूँ इन दिशाओं को बंद दरवाज़े। मुझे अब फुर्ती से कपड़े बदलने की आदत पड़ गई है। मैं उनका विचार कर अपराध-लिप्त हो उठती हूँ······जो इस समय तम्बुओं, कम्यूनिटी सेंटरों या तबेलों में रह रहे हैं। यह सोचना भी कितना अज़ाबकुन है। मैं इस सोच की हटाकर कोई आरामदायक सोच दिमाग में फिट करके जीना चाहती हूँ।

OO OO

सर्वदलीय सभा। थोड़ी देर में वह मंत्री पधार रहा है जिसे देख मन आतंकवादी हो उठता है। बंदूक संभालती हूँ। बिना ट्रेनिंग के निशाना सही सधता है और एक ही गोली से मंत्री ढेर में बदल जाता है। और समस्या ? मन यकायक गांधीवादी हो उठता है····पर यह भी तो प्रासंगिक नहीं। दुश्मन हमारे बीच से उगा झंखाड़ की तरह। हमें उसे गले लगाना है। हम उसे गले लगाते रहे और प्रेम निभाते रहे····न निभी तो····। राख में यह सूंई हमें ही चुभती रही अक्सर। मन प्रतिक्रिया तो करता ही है····दर्द से। पर हमारे दर्द की आह कोई सीमा ही पार नहीं करती। मन बुरी

तरह से शून्यवादी हो रहा है···अतः मौनवादी···फिर जड़वादी···मन-कंचा कितने टप्पे खाता हुआ क्या-क्या वादी होता है। बार-बार हाथ आती है निराशा। यह मन-कंचा धृष्ट है टूटता नहीं। फिर निष्कर्ष निकलता है– यही तो इसकी शक्ति है। हमें सम्भवतः यह आत्मश्लाघा ही बचाती हो। इसी में कहीं हमारी जिजीविषा रची-बसी है। जिस किसी से बात करो–भले ही आज़ामना, अंत में उपसंहार के तौर पर वह इकबाल को उद्‌धृत करेगा–"कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी···।" अरे मिटती तो चली आ रही है···पर तुम मानो तो···तुमको यह मिटना-मिटना लगे। तब न। अपने मिटने का लुत्फ उठाती हुई एक गैर शायर-शायराना ज़ात।

हाल में मैं जहाँ बैठी हूँ– वहाँ मेरे दाहिने-बांये कुछ किशोर हैं। मैं अपने शून्य मस्तिष्क के साथ मुखर हूँ। मवाली-सी। डायस पर काली-करतूतों को नंगा किया जा रहा है। अनावृत्ति के शब्दों की पुनरावृत्ति हमारी आवर्ती पूंजी है। फिर वही बातें। अध्यक्ष भी कहता है कि 'बटवरोस त्अ बटन्यव सान।' फिर दूसरा अध्यक्ष भी यही दोहराता है। फिर तीसरे अध्यक्ष के पास भी इसके सिवा कुछ नहीं। कितने हमारे अध्यक्ष, कितने हम। बारह कुली, तेरह मेठ। लोग कहते हैं 'शेम-शेम।' मैं भी अपनी-पूरी-पूरी आवाज़ से उनका सहयोग देती हूँ। सोचती हूँ उन्हें 'शर्म-शर्म' कहना चाहिए पर लगता है 'शेम-शेम' शायद ज़्यादा जंचता है। पता नहीं सभी चीज़ें अंग्रेज़ी की ही क्यों जंचती हैं और पता नहीं राष्ट्रभाषा-प्रेम का यह भूत मुझ पर भी वक्तन-फ-वक्तन क्यों सवार होता है। यहाँ तो हर तीसवें सेकंड पर 'शेम-शेम' बोलना पड़ता है। मेरा प्रतिक्रियावादी मन बोल ही उठता है। कभी-कभी मुझे यह बोलने की ज़रूरत कुछ ज़्यादा ही अवसरों पर महसूस होती है कि पूरे हाल में सिर्फ़ मै बोलती हूँ 'शेम-शेम'। मेरे दांयें-बांयें के किशोर मेरे बदले शर्माते हैं। अपनी अंजुरियों में अपने प्यारे-प्यारे मुखड़े रखकर खूब हंसते हैं। फुसफुसाते हैं। कोई कहता होगा– 'यार कोई पगली है।' मैं अनुमान लगाती हूँ– पर फिर भी मैं बाज़ नहीं आती। कोई औरत ऐसा मवालीपन नहीं करती जैसा कि मैं। वह भी हमारे समुदाय में। उन्हें अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी मेरा तटस्थ-दृष्टा भी मुझे कहता है– 'शालीन बनो।'

हुंह···शालीन बनो तुम। कालीन बनो। हंह। मैं क्या किसी पर अपनी छवि डालना चाहती हूँ···मुझे मन की करने दो जी– शेम···शेम। और तालियां···ज़ोर-ज़ोर की तालियां। कभी-कभी तालियों की शुरूआत ही मैं करती हूँ। दांये-बांये के किशोर डायस की कार्यवाही नहीं मेरी कार्यवाही देख रहे हैं। मैं उनके उपहास, हंसी सब कुछ को जायज़ मानती हूँ कि वे ज़्यादा ही कुछ मुझे इंगित करके फुसफुसा रहे हैं। उनके चेहरे तीव्र लाल हो गए हैं।

ऋजु दौड़ता हुआ मेरे पास आता है। मैं उसे बांहों में लेती हूँ। वे अचानक असमंजस में पड़ते हैं, मौन हो जाते हैं। मैं बच्चों को हिमा के पास उसके 'स्कल्पचर कोर्ट' में छोड़ आई थी। अब वे शायद घर जाना चाहते हैं या हिमा को उन्होंने काम नहीं करने दिया है। मुझे मवालीपन में रस आया था। जब से बेघरी ने ज़लील किया ऐसे शगुल बहुत होते हैं....ज्यादातर इसी हाल में।

मैं ऋजु के साथ बाहर आती हूँ। ठुमरी का हाथ पकड़े हिमा खड़ी है। मेरे बच्चे मुझे सौंपने के लिए।

"–ममी अग्निशेखर भी है अंदर क्या ?"

"–क्यों ?" मैं यकायक चौंक गई। अब ये सीधे उसको उसके नाम से पुकारते हैं।

"–मिलना चाहते हो उनसे बेटे" मैंने पूछा।

"–नहीं नहीं....ममा....बस यों ही पूछा।"

वह अपने पिता अपने कारण को आश्चर्य की तरह जानना चाहता है, देखना चाहता है, छूना चाहता है, असंख्य प्रश्न पूछना चाहता है पर विडम्बना। देख भी लें तो क्षण भर-बस। वह बच्चों के साथ ज़्यादा देर नहीं रहना चाहता। उसे लगता है कि क्या पता मुसीबत गले ही न पड़े। उनके लिए एक भयावह शून्य, शून्य और प्रतीक्षा छोड़ कर। उन्हें भी लगता है ऐसे आने, मिलने से, न आना, न मिलना भला। हम जैसे हैं, वैसे ही ठीक हैं। क्या अर्थ है यातनाओं के इस उल्लर में उल्लोल बनाना, उसे मज़ा आता हो....पर ये कैसे-कैसे पटके जाते हैं मासूम, असहाय।

एक दिन मेरी अनुपस्थिति में आए थे। ऋजु के लिए एक अठन्नी वाली नटराज रबड़ लाई थी। ठुमरी सोई थी। जब जाग गई तो ऋजु ने रबड़ दिखाई। दोनों में झगड़ा हुआ। अंततः ठुमरी विरहणी सी मुख्य दरवाज़े पर प्रतीक्षा करने लगी पिता की। अंदर ही न आई जब तक सांझ न हुई। "पापा मेरे लिए ज़रूर आयेंगे, मेरी नटराज रबड़ देने।" ठुमरी के अंदर एक आस्था शिला हो गई। वह नहीं आए। ठुमरी दरवाज़े से भीतर आई।

OO OO

हिमा ने मेरे लिए पनीर का चूरा और रोटी लाई है। मैं वैसे कूपन पर खा चुकी हूँ। उसकी रोटी का प्रसाद अनन्य स्वाद था।

हम पुस्तक मेले की तरफ चल पड़े। पुस्तकों की विराट दुनिया। पुस्तकें जिनमें दुनिया है। दुनिया जिसमें पुस्तकें हैं। हम देखते हुए जा रहे हैं। जैसे फूलों की क्यारियों में से। एक से एक पुस्तकें पर जेब में कौड़ी नहीं। 'बाज़ार से गुज़रा

हूँ–खरीदार नहीं हूँ''''' मैं गुनगुना रही हूँ। हिमा की कमर में अपनी बांह डाले चल रही हूँ। हास-परिहास करते हुए। खूब थक गए। श्रीकांत के स्टाल पर काफी भीड़ थी।

"महिला कांउटर पर हो तो काफी लोग पुस्तकें खरीद लेते हैं।" श्रीकांत का मानना था जो कि उसने हौले से हिमा से कहा हम हंसी रोक न पाए अपनी– अभी आते हैं। कहकर चल दिए। उत्पल प्रकाशन ढूंढ रहे हैं। वह मुझे कल स्टॉप पर मिला था, आमंत्रित किया था, इसीलिए। हम इस हाल से बाहर की तरफ जा रहे हैं। तेज़ी ग्रोवर और हरजीत सिंह मिले। तेज़ी आज गर्मजोशी से मिली– "यार थोड़ा थकने के लिए आए हैं यहाँ।" मेरी हंसी निकल गई जब तेजी बोली।

हरजीत हिमा के शिल्प की तारीफ कर रहे हैं और हिमा हरजीत के ग़ज़लों की। ग़ज़लों की किताब उन्होंने मुझे दी। तेज़ी ने थकने के लिए हमसे विदा ली'''' 'इस खानाए हस्ती से गुज़र जाऊंगा बेलौस आं आं आं आं आं आं''''''इस खानाए हस्ती से गुज़र जाऊंगा बेलौस''''उलझूं किसी दामन से मैं वह खार नहीं''''दुनिया में हूँ''''' यह किन यंत्रणाओं की गाथा होगी (कवि) की। हमने कदमों में गति भरी और 'उत्पल स्टाल' दिलचस्पी से ढूंढने लगे।

हम ऊपर के टेरेस से नीचे के स्टालों को देख रहे थे। भव्य।

"–यही दृश्य अखबारों में था।"

दूर से दिख रही है तेज़ी और हरजीत। मैं उन्हें देख रही हूँ। हिमा और कहीं खोई– वह देखो 'बद्री नारायण यह मेरी रसोई नहीं है" हिमा ठहाका मारकर मेरी नज़र का अनुसरण कर भीड़ में तेज़ी को खोज रही है। हम टेरेस से आगे बढ़ते हैं।

'पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस' अब 'लिमिटेड' हो गया है। मैं आह्लाद से भर उठी। मुझे लगा अन्ना से फिर मिल सकती हूँ। अन्ना। जिसने बूढ़े पति का त्याग कर युवा-प्रेमी के बच्चे को उन्हीं दिनों जन्म दिया था जिन दिनों जेहाद की उच्चतम पारे के साथ ही शुरूआत हो गई थी। अजीब विरोधाभास। इधर धर्म का जेहाद उधर अन्ना का शुद्ध-जीवनगत द्वन्द्ध। अन्ना के बूढ़े पति से भी संवेदना जगती पर अन्ना के अन्तर्जगत की मुसीबतें भी कम असह्य नहीं। यकायक एक बेलाग शोर मच उठा है बाहर सड़क पर। फिर कोई प्रलयांश ? अभी-अभी तो गुप्ता ट्रांसपोर्ट की लपटें धीमी हुई हैं। और अब पूर्व दिशा से प्रखर प्रकाश। थरथराता, कांपता प्रकाश। हम खिड़की से देखने लगे। पड़ोसन ज़मरूदा, उसका दढ़ियल भाई, बच्चे सब उत्साह से देख रहे हैं। मैं और भाभी उन लपटों में पता नहीं किन अग्नि दूतों का प्रतिबिम्ब साफ

देख रहे हैं। अग्नि बाण, अग्नि गदाएं, अग्नि चक्र लिए। अन्तहीन अग्नि के लिए। सहम शनैः शनैः बढ़ रही है।

"–पण्डितों का मकान जल रहा है।" ज़मरूदा कहती है। साफ है कि हमें कान खोल कर सुनने को ही कहती है। उसकी आवाज़ ही बता रही है।

"–पण्डितों के अभी और घर जलेंगे।" ज़मरूदा की भाभी बोल रही है, कुछ क्षण बाद, बड़े आराम से। हम खिड़की बंद कर अंदर आते हैं। और हमारे कमरों में इन यंत्रणाओं से बचने के लिए मंत्रणाएं जारी हैं। दुःख में दुर्बुद्धि हुए। तलवार सिर के ऊपर झूम रही है....चकाचक। मृत्यु भी मुक्ति है। छोटे-छोटे बच्चों को जन्म दे चुके हैं। भैया ड्यूटी पर गए हैं। ये दिन। ये कैसे दिन हम पर शत्रुओं की तरह टूट पड़े। हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी ऐसे दिनों की। लपटों में से टास-टास की ध्वनियां प्रखर हैं। भिड़ी खिड़की के बावजूद हमारे कान, आँखें, मन उस आग के पास है....जल रहे हैं। मैं अन्ना को गोद में रखे हूँ। यह बाहरी इतिहास, यह भीतरी संत्रास। दोनों मुझे लील रहे हैं। भैया की सलामत-वापसी के लिए प्रार्थना करती हूँ। शायद अन्ना केरेनिना मिले ? है न ?"

वह हाथ से 'क्या पता' का इंगित करती है। जबसे रूस टूटा है, जीवन की एक लय टूटी है। अमरीकावाद का कीटाणु खाए जा रहा है। जबसे रूस टूटा है, बहुत सारे खम्बे टूट गए हैं साथ में। डंकल, निजीकरण, उदारीकरण ने और अनिश्चय और संशय की मार दी है। हर क्षण भय से आवृत। पता न कब क्या हो। हमारे पास सिर्फ अब एक-मात्र मज़दूरी ही तो है। 'मेरा दागिस्तान' खरीद ली।

"....तुमने तो पढ़ी है ?"

"....दूसरों से लेकर। अपनी प्रति होनी ही चाहिए न।" विश्व की महान कृतियों में से एक है। वह पेप्सी को खोज रही है। उसके पास उसका एक कूपन है। हम आधी-आधी पेप्सी पी सकते हैं न ?

OO OO

मैंने उसके विषय में कुछ न सोचा था। दिन में किसी क्षण भी नहीं। इतनी व्यस्तता रही थी। फिर एक मानसिक व्यस्तता भी। फिर ? फिर क्यों ? अर्से बाद एक अच्छा और लुभावना। एक परिचित रूप में वह आ रहा है। मैं अंधेरे में गुड्डी-मुड्डी बैठी सोच रही हूँ रोशनी के विषय में। 'वह' आकर प्रकाश करता है। और प्रकाश में मुझे गौर से देखता है। मुझे वह प्रसन्न दिखता है पर मेरे मन की शंकाएं भी घनघोर हैं। उन्हें कौन हवाएं उड़ा सकती हैं। मैं उसके गौर से देखने और प्रकाश करने से अविचल हूँ। मेरे कई टुकड़े हो जाते हैं। एक टुकड़ा दुखी कि यह क्षणिक रूप दिख

ही क्यों रहा है ? वह एक भला-मनुष्य नहीं । दूसरा उससे पारम्परिक उलाहना देना चाहता है । तीसरा धैर्य की बात समझाकर रोकता है । चौथा उसे शिख से लेकर नख तक निहारता है और सूक्ष्म रूप से समझने का प्रयत्न करता है । अगला कहता है इतनी देर समझ न पाए इस अमानवीय गुत्थी को, अब क्यों, किसलिए ऊर्जा बरबाद कर रही हो । कर आँखें बंद और कर प्रार्थना कि हो चिरस्थायी प्रकाश···सर्वत्र । सब पर । मैं सचमुच नज़रें नीची करती हूँ ।

"–देखो मेरे ज़ख्म । मेरे छाले । तन-मन पर पड़े हैं ।" वह कहता है । मन झूम उठता है । स्वप्नों की इस खुशी का भी क्या कहना । मेरा मौन भरसक टूटता है– और मेरे ज़ख्म ? ···तुम्हें कुछ अंदाज़ है ? तुम चकाचौंध और वाहवाही के घटाटोप में गुम हुए और मुसीबतों को सुख मानकर चलती रही खरामा-खरामा में । जैसे निर्दोष कैदी कैद को ही मुक्ति मान कर अन्याय को पछाड़ता है···उसी तर्ज़ पर । यह लाइट बंद कर दो प्लीज़ । मैं नकली प्रकाश नहीं असली प्रकाश में तुम्हें पहचानना चाहती हूँ । मिलना है तो खुले सूरज के किरण-जाल में मुझे मिलो । तब कहो ये शब्द···यह झूठ । तुम झूठ बोल रहे हो और जो मैंने भावुक होकर अभी-अभी तुमसे कहा उसे कान-मन से निकाल दो···अनसुना करो ।···जाओ ···अकेला छोड़ दो···कृपया···।" पता नहीं वह कहाँ गया । मैंने आँखें खोली तो कमरे की छत की बड़ी-बड़ी शिलाएं रोशन थीं । खूब सारे जाले लगे हैं ओने-कोने में । आगामी शनिवार को इन्हें साफ करूंगी । स्वप्न के दृश्यों और इन मकड़जालों का कितना गहरा संबंध है । सोचती हूँ दूसरा, कुछ इससे बेहतर कमरा देखूं । रुपया सौ-भर ज़्यादा किराया दूँ । यह तो सचमुच रहने योग्य नहीं । अब गर्मियां आएंगी । रसोई में फिर छिपकलियां और कनखजूरे नमूंदार होंगे । हर गर्मी इसी आस्था में बीतती है कि अगले मौसम में कुछ और समाँ होगा···पर गहरे धंसे इन मकड़जालों को कौन झाड़ेगा । हाथ पैर-मन हीन हूँ । कुछ नहीं उठता सिवाय दृष्टि के । और दृष्टि तक थक कर मुंद जाती है । मन, आत्मा, शरीर, प्राण आदि-आदि जितनी भी इस प्रकार की चीज़ें हैं सब थककर चूर हैं । या है ही नहीं । स्वप्न । हुंह। स्वप्न में तुम । तुम कौन ? मेरे अंदर घर के गीत हैं ढेरों । भूरि-भूरि । उस उत्स की तरह जो हमारे घर की नींव में हों और रोज़ घर को हिलाता रहें । रोज़ भय बना रहे इतने पानी के स्राव का···स्राव जो अथक है··· अनवरत है···यही हैं मेरी निजी कविताएं । कृपया कोई न सुने ।

OO OO

बगल के कमरे में चार साल की ज्योति तीन साल की प्रीति और डेढ़ माह का दीपक रहने के लिए आया है । दीपक के रोने की आवाज़ दूर से आई । लगा कोई

मेरे घर आया है। जहाँ कोई नहीं आया करता सिवाय घर की स्मृतियों के। बच्चे उनके आगमन की खुशी में ईद मना रहे थे। प्रीति की नाक बहुत बह रही है। ठुमरी और ऋजु दोनों में प्रेम करने की अद्‌भुत क्षमता है। दोनों स्नेहिल हैं। शायद इसका कारण इनकी निजी परिस्थितियां ही हैं। इन्हें पिता ने छोड़ दिया, इससे ये कमतर और बेबस महसूस करते हैं। उन कारणों को खोज रहे हैं जिनके कारण पिता ने इनसे नाता तोड़ा। वह भी इस आपात्काल में। जबकि पूंजी के रूप में सिर्फ़ अपने-अपने प्रियजन ही बचे और कुछ नहीं। इन्हें लगता है कि बिगड़ने के लिए इनके पास कुछ नहीं। है तो प्रेम और अभाव। बहुत से भावों का उद्‌भावक प्रेम।

नन्हा दीपक अपने मोटे पिता की गोद में इस तरह है मानो माँ की गोद में हो और अभी इसे दूध पिलाने जा रही हो।

"–बड़ा अच्छा पुरुष है। पत्नी को कैसे रखता है। बच्चों से कितना प्यार है।" माँ कह रही है। बच्चे बड़े ध्यान से सुन रहे हैं। मैं सुन भर रही हूँ। अच्छे मनुष्य अब अजूबा है इस संसार में।

OO OO

प्रीति 'दीदी, दीदी' तुतला रही है। उसकी माँ मेरे पास हिमा का यशोगान करने आई– आपकी बहन ने सुबह इसको नहलाया, नाक साफ, सजाया-धजाया...बहुत प्यार किया, सारा दिन उसे ढूँढती रही।" सुबह जो कुछ अंदाज़ा लगाकर मैं चली थी उसने सचमुच ही किया है। मैं जानती थी हिमा प्रीति को साफ-सुथरा करके जाएगी। मैं उसकी विशेषताओं से वाकिफ हूँ। वह अब इस नन्हीं सी जान में बस गई है। प्रीति की माँ तफसील बता रही है। प्रीति से ज्यादा प्रीति की माँ में स्नेह उग उठा है हिमा के लिए।

"....वह तो जादूगरनी है...जादूगरनी।" उसकी बातों में प्रेम और आभार भर-भर आ रहा था।

उसका पति आया। बारिशों के कारण आजकल बहुत अधिक कीचड़ है। उसने घुटनों तक पाजामा मोड़ा है। तराजू रखकर उसने ज्योति को आवाज़ लगाई। –बेटी रेडी के पास खड़ी हो...उसमें सामान रखा है।" प्रीति का चुम्बन लिया...दीपक को प्यार किया और तेज़ी से दौड़ पड़ा सामान अंदर लाने के लिए। पीछे-पीछे पत्नी भी चली। पति-पत्नी ने सारा सामान रेडी से अंदर लाया। फिर वह अपने पैरों की कीचड़ धोने लगा। ज्योति, सिर्फ चार वर्ष की ज्योति पिता की आज्ञा का पालन और अपना कर्तव्य पूरा कर भीतर आई।

प्रीति की माँ ने बच्चे को गोद में लिया फिर मेरे पास रसोई के दरवाज़े पर

बात करने लगी–

–अब पतिदेव को चाय-वाय पिलाओ····मैंने कहा । मैं चाहती थी कि वह जाए । जानती हूँ कि वह अब कुछ जिज्ञासाएं शांत करने आई है····जो सहज होती हैं स्त्रियों में । और मैं, यद्यपि चाहती हूँ संसार में कोई बात रहस्य न हो तब भी रहस्य होना ही चाहती हूँ ।

OO OO

पुस्तक मेले में इस समय कुछ शांति है । यात्री प्रकाशन से पता चला कि बाबा अभी-अभी चले गए हैं । फिर एक चक्कर काटा । 'सम्भावना' से थोड़ी दूरी पर ज्ञानरंजन, इब्बार रब्बी तथा विजय कुमार खड़े हैं । ज्ञानजी ने बड़े स्नेह से पूछा– "पत्र मिला ?" मैंने हामी भरी ।' –हिमालय कैसा है अब ? "ठीक है ।" मैंने उत्तर दिया । उन्हें उसकी बीमारी की सारी दास्तां जो मैंने पिछली बार कही थी कहीं भीतर तक पीड़ित कर गई है । उसका हाल वह सबसे पहले पूछते हैं ।

"–आप वापस कब जा रहे हैं ?"

"–छः सात दिन की छुट्टी लेकर आया हूँ । उसी घर में रहती हो ?"

"–हाँ ।" उस दिन जब वह आए थे तब मैंने उनसे कहा था कि कमरा बदल लूंगी । तब से डेढ साल बीत गया, मैं उसी बिल में पड़ी हूँ । वह सोच रहे होंगे उस घर से निकलती क्यों नहीं जो बच्चों के स्वास्थ्य के लिए कतई ठीक नहीं ।

"पर मुझे बच्चों को भोजन भी तो खिलाना है भाई साहब !"

दूर से भारत आ रहे दिख रहे हैं । हाथ में बेतार है ।

"–आप देर से आईं ?" मैं नहीं चाहती थी वह श्यामाकांत और श्रीकांत के सामने ऐसा पूछें ।

–तो आप मिल ही गए । और यह पोल-खोल यंत्र ? मैंने बेतार की तरफ इशारा किया । दरअस्ल मैं यात्री प्रकाशन बन्धुओं के सामने अपनी झेंप मिटा रही थी ।

मैं न पुस्तकें देखने आई हूँ, न किसी और से मिलने । सिर्फ़ उत्पल से बातें करने, उससे मिलने । पर उत्पल डिफेंसिव स्टाइल से बातें करता है । मेरे समुद्र में कोई ज्वार नहीं आता । मैं चाहती हूँ····समुद्र शोर करे····तूफान मचे । पता नहीं क्यों । मैं इस क्षण हीमाल होती हूँ कि नागराय की कोई ख़बर मिले । कभी-कभी आत्म सम्मान में पगी सीता होती हूँ । और कभी-कभी अरनिमाला । "ईपान हय् य़ाम जान म्वोलस ती थोवुम मीरजान····दुरदान् दपान तोति लोलस····। मैं अनमोल थी तब भी बिन मोल बेच दिया स्वयं को उसे····वह तब भी तेवर दिखा रहा है····अरुचि दिखा रहा

है।" ख़ैर···सामने आता है उपेन्द्र रैणा। बड़बोला अंदाज़। ज़रा भी नहीं बदला- सुना है तुम बड़ी विस्थापित कविताएं लिखती हो- उसकी आवाज़ में व्यंग्य का पुट था।

"-विस्थापित कविताएं नहीं, लोग होते हैं।" कोफ्त होती है ऐसे लोगों की ऐसी बातें सुनकर। इससे पहले कि मुझे और कोई मिले मैं राजकमल स्टॉल से चल देना चाहती हूँ। वापस आ ज्ञान भाई साहब से कहती हूँ- "मेरे लिए किताबें खरीदियेगा आप। हूँ ?" मेरे स्वर में अधिकार था। जो उन्हें अच्छा नहीं लगा। मैंने भी यह किस अधिकार से कह दिया। इस अधिकार से कि कई कारणों से मैं निरीह हूँ अतः उनकी दया की पात्रता है मुझमें। इसलिए कि मैं उनसे प्यार करती हूँ ? इसलिए कि एक मुँह बोले संबंध को मैं सच मानती हूँ ? किस अधिकार से ? मैं स्वयं विश्लेषण नहीं कर पाती। ढूंढ नहीं पा रही उस सूक्ष्म कारण को।

-देखो मैं बहुत व्यस्त हूँ। "कल मैं फुर्सत से मिलूंगा।" मैंने बेवजह एक सूई अपने हृदय में चुभोई और चल दी। मैं बहुत देर तक हतप्रभ, निस्तेज सी रही। मैं एक युद्ध से गुज़र रही हूँ, अपनी प्रभा के लिए लड़ रही हूँ। मैं अपनी प्रभा के लिए कहाँ-कहाँ किस-किस से छीना झपटी कर रही हूँ। यह हमारी प्रभा पर अचानक क्यों हाथ मारा गया ? कि हम इसे वापस हासिल ही नहीं कर पा रहे हैं। वृक्ष की प्रभा जड़ों से आती है और जब तक हम जड़ों की सीध में खड़े नहीं होंगे···हम इसी तरह क्षण-क्षण जियेंगे···प्रभा के लिए युद्ध लड़ते रहेंगे।

मैं धीरे-धीरे उत्पल स्टाल की तरफ बढ़ रही हूँ···ढेर सारी सूइयां स्वयं को चुभवाने और सारी प्रभा और मन व्यर्थ में व्यय करने के लिए···

OO OO

दानूता और मंगलेश जी कुछ ठीक-ठाक कर रहे हैं। मैंने यहूदा की दोनों पुस्तकें सधन्यवाद लौटाईं। सामने कोई सज्जन बैठे हैं। शायद मुझे इस क्षण आकर इनकी व्यस्तता में विघ्न नहीं डालना चाहिए था। मैं चलने को हुई।

"-आप रुकिए तो।" मंगलेश जी की आवाज़ में आग्रह था···जो मुझे अच्छा और अविश्वसनीय लगा।

"-इनसे परिचय है क्षमा ?" वे बोले।

"-नहीं।"

"-ये हैं लीलाधर जगूड़ी।"

अरे रे रे रे···मैं उठी और झुककर उन्हें प्रणाम निवेदित किया। कितनी बेचैन कर देती हैं मुझे उनकी कविताएं।

"–क्षमा ! कहाँ हो दिल्ली में ?"

"–जमुना पार ।"

"–यहाँ क्या कर रही हो ?"

"–प्रतीक्षा और मजूरी दोनों ?"

"–चलो यह तो ठीक है ।" उन्होंने हंसते हुए कहा ।

मेरी नानी की रसोई में जहाँ तख्ता था वहीं पीछे एक विशालकाय 'लोपुन' था कच्ची मिट्टी का । काफी लम्बा । मैं उन दिनों आकार में छोटी थी । नानी अकेली थी, गरीब थी इसलिए उसके लोपुन में बहुत कम धान हुआ करते । मैं प्रायः उस पर चढ़कर उसमें सिर के बल स्वयं को डाल देती । धान छूने और लोपुन के अंदर ठीक से देखने के लिए । फिर धान छूना मेरा लक्ष्य होता तो मैं इसके लिए काफी संघर्ष करती । कभी-कभी तमाम खतरे उठाते हुए लगता किसी धान से मेरी सबसे लम्बी उंगली का पोर-भर छू गया । संघर्ष कर-कर थकी होने के कारण मैं संतोष कर लेती···· फिर अगले दिन पर लोपुन के रहस्यमय लोक तक पहुंचने का कार्यक्रम स्थगित करती । मैं सिर के बल उसमें गिर भी सकती थी जो कि खतरनाक भी हो सकता था । पर इतना खतरा मैंने नही उठाया । उससे हमेशा आधा बिंदु दूर रही । रहस्य को जानने के लिए रहस्य में अपने को विलय करना पड़ता है । यही नियम है । यही हमारी त्रासदी भी है । हम जीवित भी रहना चाहते हैं, सुखी भी रहना चाहते है और स्वर्ग में भी । जोकि असम्भव है शायद ।

जगूड़ी जी की उन दिनों की जनसत्ता में छपी कविताओं का ध्यान आया जब शेखर ने हमें इलाहाबाद से लाकर शकरपुर के घर में एक सडियल कमरे में ला पटका था और स्वयं 'मातृ भूमि की सेवा' ? के लिए चम्पत हो गया था । घने दैन्य और ऋजु की घोर अस्वस्थता से घिरी थी । कविताएं उत्तरकाशी के भूकम्प के संदर्भ में लिखी थीं । मैंने सोचा था काश हमारे वहाँ भी इस त्रासदी की एवज़ में भूकम्प ही आया होता, हम कम से कम अपनी जन्म भूमि की खाद तो हो गए होते । यह निष्कासन, यह बनवास तो भयंकर है । मुझे उत्तरकाशी के भूकम्प से दबे लोगों से ईर्ष्या है । यह सब मैं जगूडी जी से कहना चाहती हूँ···पर क्या कहा जा सकता है । जैसे संदर्भहीन हो सब । सब कुछ । जीवन ही पूरा संदर्भहीन ।

"–आपकी कविताओं ने मुझे काफी उकसाया था···मैं कुछ लिखना चाहती थी···किंतु ····क्या आप कश्मीर गए हैं ?"

"–मैं गया हूँ···।" मंगलेश जी बोले ।

"–हाँ मैं गया हूँ··तुम्हारे घर गया हूँ··तुम ने हमसे मिलने से इन्कार किया

था····हाँ शेखर कह रहे थे ।" ओफ्फ····अपने असत्य का विष कहाँ-कहाँ फैला रखा है । मुझे तो बताया भी नहीं गया था कि आप आए हैं····ख़ैर तो यह बात है ।

OO OO

दूसरी इमारत की खिड़की पर कबूतर-कबूतरी प्रेमलीन हैं । मैं स्वयं को टटोल रही हूँ । नहीं मुझे कुछ नहीं होता । मैं सुन्न हूँ । कितने सुख की बात है कि अन्ततः मरना है । चेतना के एक हिस्से में सन्निपात । मैं कबूतर-कबूतरी को देख रही हूँ । प्रसन्न भी हूँ, संज्ञा शून्य भी । मुझे उनसे ईर्ष्या नहीं हो रही । कितना अच्छा है कि कभी-कभी मुझे लगता है कि मैंने अपनी ईर्ष्या का विकेन्द्रीकरण किया है । अपने विषय में मैं कितनी बड़बोली हूँ ? मुझे कौन बताएगा ? मैं किससे पूछ रही हूँ ?

OO OO

हिमा का मुख विशेष तेज से मण्डित है । वह हमें माता-पिता के साथ यात्रा पर ले जा रही है । बच्चों में उल्लास है ।

पंडे ने हमें बस से उतरते ही देखा था । "आप कश्मीरी हैं ? देखिए मैं कश्मीरी पंडा हूँ····नंदलाल कौल····सभी कश्मीरियों के लिए मैं नियुक्त हूँ ।" वह बराबर हमारे पीछे-पीछे चल रहा है । कभी-कभी हिमा उससे उलझ रही है और कभी-कभी पापा । फिर माँ भी उसे खूब डांट देती है । लेकिन वह बराबर चल रहा है, हमारी बगल-बगल । कुन्दन हुआ है । उस पर हमारी बकवास का कोई असर नहीं । वह अपनी रट बराबर लगाए है । माँ, पापा, हिमा बारी-बारी से चिढ़चिढ़ कर उसे दुर-दुर कर रहे हैं । पर वह कुत्ता थोड़े न है । मनुष्य है । उसकी भौं-भौं के साथ उसका दृढ़ संकल्प भी जुड़ा है, फिर हमारी दुर-दुर का उस पर क्या असर ।

"–इसे बोलने दो····क्या फर्क पड़ता है····यह इसका धर्म है । आखिर बेचारे का पेट है न ? आप शांत होकर चलते रहिए ?"

हम सरोवर के समीप आए । पानी का रंग गंदला है पर उसके अंदर नृत्य करती मछलियों ने उसे जीवंत बना रखा है । मछलियां उछलती-कूदती हैं····कभी-कभी लगता है वे आपस में लड़ रही हैं ।

"–अवध्य हैं न, इसलिए निर्द्वन्द्व हैं ।" हिमा कहती है ।

"–तो फिर ये सिर-चढ़ी मछलियां हैं । अवध्य बनाना····सिर चढ़ाना····क्यों ?" मैंने अपनी जीभ काट डाली····कुछ कहा नहीं····यह मैं क्या कहने जा रही थी····हिमा मुझे मार डालती । पंडे महाराज अपना बही खाता लाए । हम सरोवर के तट पर बैठ गए । माँ ने ब्लाउज़ उतारा और बैठ गई । ऋजु जोर-जोर से चिल्लाया और रोया और पूरी शक्ति से नानी को पकड़े रखा । उसे लगा नानी सरोवर में जाएगी, जहाँ

कि मगरमच्छ हैं। हिमा उन्हें बता रही थी कि इस सरोवर में मगरमच्छ भी हैं। माँ अपने ऊपर गिलास भर-भर पानी डालती रही····जब तक वह नहा न चुकी ऋजु ने उसे ज़ोर से पकड़े रखा····मगरमच्छ से बचाने के लिए। पंडे ने मुझे अपना कार्ड दिया जिस पर उसका नाम लिखा था। मैंने उसे सरोवर में बहाया। उसने आधा श्राद्ध हिंदी आधा संस्कृत में किया। दो किशोर पंडे पास में ही दो अंग्रेज़ों, एक महिला, एक पुरुष को पकड़ कर उनके पितरों का श्राद्ध करने लगे। उन्होंने उनके दादा-दादी, नाना-नानी, सब पितरों का नाम पूछा और उन्हें मुक्ति द्वार तक ले गये। दोनों ने उन्हें पाँच-पाँच रुपये दक्षिणा दी। कमसिन पंडे निराश थे। कश्मीरी की कहावत– 'माँझियों के जाल, मछलियों की कूद।' ये लोग भी अब महारत हासिल कर चुके हैं। पंडों की पंडागिरी का तमाशा देखते, मज़ा लेते हैं। वे समझते होंगे शिकार फंसा पर बाद में देखते होंगे जाल में बड़ा सा पत्थर। अंग्रेज़ यहाँ गलियों में स्थानीय लोगों की भांति घूम रहे हैं।

OO OO

मुंडेर पर माँ संध्या-वंदन कर रही है। मैं सूर्यास्त का प्रतिबिम्ब झील की मरियल लहरों में देखती हूँ। इसे देखते ही डल-झील की चौड़ाई आँखों में फैल जाती है। कभी-कभी वितस्ता का भरा-पूरा बदन।

पीछे कुछ ऐसी जगह है जो अपनी कथा कह रहा है। "–दीदी यह सरोवर 86 में यहाँ तक था। यह मुंडेर यहाँ भी डूबी रहती थी पानी में।" मैं रोमांचित होती हूँ। और अब सब सूखता जा रहा है। प्रकृति को यह कौन चूस रहा है। भला प्रकृति को भी कोई लील सकता है ? तभी तो प्रकृति फिर हम पर टूट पड़ती है। क्या-क्या लुप्त होता जा रहा है, नदियां, वृक्ष, सरोवर, जातियां, पशु, पक्षी····जो कुछ भी नैसर्गिक है, सब खतरे में है। हिमा अपनी उंगली गोलाकार नचाकर कहती है– "ये सभी मंदिर थे अब होटल बन गए हैं।" मन दुःख से भर उठा था। इस कौड़ी ने आदमी को कौड़ी का भी नहीं रखा है।

"–यहाँ एड्स का भी प्रकोप है।"

"–विदेशी स्वच्छन्द घूम रहे हैं। दुर्गन्ध सने। यहाँ स्थानीय लोग जैसे भारतीय हों ही नहीं····विदेशी ही विदेशी।"

ऋजु ने जान बूझकर अपनी गेंद सरोवर के उस हिस्से में फेंक दी जहाँ से सरोवर सूखते-सूखते रेत में बदलता जा रहा है, ताकि उसे उस तरफ जाने, नीचे उतरने का मौका मिल जाए। ठुमरी भी जाती है। कुछ देर वे दोनों वहाँ खेल रहे हैं। उन पर मेरी चौकस नज़र है। मेरा भी मन होता है कि सरोवर के जल के पास इस तरफ

से जाऊं। ऋजु अचानक तेज़-तेज़ कदमों चलकर मेरे पास आता है जैसे उसे बेहद ज़रूरी बात पूछनी हो– "ममी मगरमच्छ ऊपर क्यों नहीं आता ?" मैं उसे क्या उत्तर दूँ।

"–बोलो ममी वह कब आएगा ? पापा कहते थे कि मगरमच्छ को प्यास लगती है तो वह तट पर आकर पानी पीता है।" एक टीस जो भीतर उठती है बेआवाज़ हथौड़ा मारकर रख देती है– ओह ! जल में मीन प्यासी। माँ होकर भी इस बच्चे के भीतर की दुनिया को मैं क्या जानूँ ? जल ही जल किंतु प्यास ही प्यास। हम सब प्यासे। पिता है पर पिता है ही नहीं। जन्म भूमि है पर जन्म भूमि ही नहीं। है पर है ही नहीं का यह दुःख वह भी नहीं समझता जिसे कायदे से समझना है। "–बोलो ममी।" वह दोनों हाथों से मुझे तीव्रता से झिंझोड़ता है···मुझे मौन से लौटाता है।

–बेटा ! क्या पता उसे कब प्यास लगेगी। कब वह बाहर आएगा। क्या पता रात में प्यास लगे···अभी तो लग नहीं रही।···मैं भी चाहती हूँ उसे प्यास लगे और वह पानी पीने आए।" वह यकायक चुप हो गया। सरोवर को एकटक देखता हुआ। वह मगरमच्छ और पिता दोनों के विषय में एक साथ कुछ सोचता हुआ कुछ कल्पना कर रहा है। जिन्हें प्यास ही नहीं लगती···जो···हम छोटी-छोटी-छोटी मीनों को लील रहे हैं। किनारे नहीं आते। पिता जिसकी दुनिया में सब कुछ है पर महत्वाकांक्षा की बलि चढ़ा दिया सब। वह मेरी जेब से लट्टू ले गया और ज़मीन पर खेलने लगा। उसकी और ठुमरी की होड़ लग गई। पास खड़ा अंग्रेज़ उसके लट्टू को लेकर उसे उल्टा चला उसे चमत्कृत कर रहा था। वातावरण में हे गोविंद मुरारी, और शराब की तीक्ष्ण गंध फैली है। झोपड़ीनुमा दुकान पर अंग्रेज़ अध्यात्म में यह धुन और शराब पी रहे हैं और ईशमग्न हो रहे हैं। मैंने दोनों से चलने को कहा। कहाँ ?. जाने का बिंदु होता है घर···हमारा कोई बिंदु नहीं···हर स्थल घर।

"–घर चलें ममी ?" वह बोलता है होटल के कमरे को जो मात्र चौबीस घंटे के लिए लिया है हमने।

बच्चे सोना नहीं चाहते। जैसे वर्षों के वनवास में घूमते-घूमते रास्ते में कोई सुरम्य नगर मिला हो। थक भी वे बहुत गए हैं। भगवान बाला जी के मंदिर में अनवरत घंटी बज रही है। आरती हो रही है। मैं उनके कान में कहती हूँ –आसपास जितने भी बच्चे हैं उनसे घंटी बजा-बजा कर कहा जा रहा है कि वे जल्दी सो जायें। बच्चे कुछ मिनटों में ही सो गए।

OO OO

तांगे वाला चेखव का पात्र सा था। जब हमने उससे तांगे के बारे में पूछा

तो उसने पहले से बैठी, प्रतीक्षा कर रही एक सवारी को तांगे से उतार कर हमें बैठने को आमंत्रित किया। ····भरपूर आग्रह के साथ।

"–हमें 'टूरिस्ट' समझ रहा है।" मैंने हिमा से कहा और हम दोनों हंसे। बच्चे तांगे पर शायद ही कभी चढ़े हों····शायद एक बार इलाहाबाद में। हमारा सीर-सोपोर, सोपोर-सीर का अच्छा खासा तांगे का सफर रहता था। बस से उतर कर हम दरगाह तक पैदल गए थे। पापा ने जर्सी उतार कर सिर पर रख ली सिर ढकने के लिए। मौलवी वही बही खाता खोले बैठे चंदा माँग रहे थे जो हमें पंडे ने दिखाया था। दोनों अपने अपने बही खाते में हमारी मुक्ति के लिए सिफारिश लिख रहे हैं। अपनी कुछ ख़बर नहीं। मुझे मंदिर का वह पुजारी याद आया जो एक दिन डॉक्टर के क्लिनिक में बैठा, अपनी बारी का इंतज़ार कर रहा था। उसने एक मरीज़ से पूछा था–

"–आपको क्या तकलीफ है ?"

"–सांस की।" मरीज़ बोला था।

"–आपका इलाज मेरे पास है आना कल मंदिर में।"

फिर वह दूसरे से भी पूछने लगा और अंत में उसे भी कहा कि वह उसके पास मंदिर आए जहाँ वह उसको दवाई दे सकता है। मुझसे रहा न गया। बोल पड़ी– "पंडित जी क्यों इन बेचारों को गुमराह कर रहे हैं। अगर आप इतने ही वैद्य हैं तो अपना उपचार कीजिए। खुद तो यहाँ आए और इन बेचारों को अपने पास बुलाकर इनकी हुलिया क्यों बिगाड़ेंगे आप ?" मरीज़ और डॉक्टर हंस दिए थे। पंडित खुद को सहज करने में लग गया····और उसकी फालतू की बकबक बंद हो गई।

"–बिगड़ी मेरी बना ले, अजमेर वाले ख्वाजा····" मैं प्रार्थना गा रही हूँ। यह नात मुझे पसंद थी, बचपन में खूब गुनगुनाती थी। पूरी आस्था के साथ। आज आस्था में प्रश्नों के कांटे भी उभर आए हैं····जो सबसे बड़ी त्रासदी है। हम परिक्रमा के बाद बाहर आए और संगमरमर की सीढ़ियों पर बैठ गए। मैं उस विशाल देग को देखने गई, जिसमें उर्स के दिन चावल पकते हैं। उसमें पाकिस्तान, बांग्ला देश, सूडान, अफगानिस्तान आदि देशों की मुद्रा थी। भारतीय नोट तो थे ही। मुझे इन देशों के नाम देख भाड़े के उन आतंकवादियों की याद आई जो आज कल हमारी मातृभूमि की मिट्टी पलीत करने पर तुले हैं। सोने के काफी ज़ेवर भी थे उसमें पर ख्वाजा का दरबार गरीब सा ही लगा। यह माल बेश्तर लूटा जाता होगा। ग़रीबनवाज़ ग़रीबों की ही तरह रहते हैं। इतनी विख्यात् दरगाह, पर साधारण। साधारण में महान। भला हो मुल्लाओं का जो लूटते हैं। ख्वाजा कहते होंगे–'लूटो-लूटो मेरे किस काम की यह दौलत।' गरीबी

में अपना ही एक नशा है, मज़ा है जीने का···और वह भी देसी दारू सी···मैं कुछ-कुछ समझ रही हूँ, मेरे ख्वाजा।

माँ कुछ देर में आई। हमने उसे भी सीढ़ियों पर बैठने को कहा वह उत्तेजित थी। "मैंने ज़ोर-ज़ोर से बोला– ॐ नमः शिवाय···ॐ नमः शिवाय।" हम हंस-हंस कर लोट-पोट हुए। "हाँ ऽ ऽ।" उसने पूरे बलाघात के साथ स्वर निकाला।

"–तब तो कश्मीर समस्या तुमने आधी से ज़्यादा हल कर दी।" हिमा ने विनोद में ऐसे कहा जैसे बड़े बच्चों से कोई काल्पनिक बात कहते हैं···उन्हें प्रसन्न करने के लिए। पर माँ गम्भीर थी।

"–और क्या···मैंने सोचा वे भी जाने मैं एक हिंदू औरत हूँ इतनी मुसीबतों के बावजूद भी आस्थाओं की अनुरक्षा की है मैंने···मैं इस दरगाह में भी अपने शिव की ही उपस्थिति मानती हूँ···कोई फ़र्क नहीं···पास मै कुछ कश्मीरी मुसलमान औरतें और मर्द भी थे···मैंने सोचा वे भी तो सुनें।"

"–सही किया तुमने···यह अच्छा काम है माँ।" हिमा फिर ऐसे कह रही है जैसे बच्चे से प्रोत्साहन के दो बोल कहे जाते हैं।

मेरी स्मृति में कौंधा वह दृश्य जब हिंदुओं का निष्कासन चरम पर था। हम एक दिन पूर्व जम्मू आए थे और इस शहर में घूम रहे थे ठिकाने के लिए। शहर में जैसे मेला लगा हो। हर सड़क ऐसे कश्मीरी निष्कासितों से भरी थी। विस्थापन-पर्व से ग्रस्त शहर। बस अड्डे पर एक कश्मीरी पण्डित अपना सामान एक कश्मीरी मुसलमान मज़दूर से उतरवा रहा था। जब सामान सारा उतरवाया तो मज़दूर ने अपनी मज़दूरी माँगी जिसका लफ्ज़ हुआ था। जब मज़दूर ने अपनी मज़दूरी के लिए ज़ोर दिया तो पण्डित ने आस्तीने कस कर उसको मार-मार कर अधमरा कर दिया साथ में अंतरराष्ट्रीय स्तर की गालियां भी! बेनज़ीर भुट्टो से लेकर उसकी माँ तक की गालियां और फिर शांत– "हर बात पर बोलते थे सालो कि तुम हमें वहाँ रहने नहीं दोगे···देखो अब क्या हाल बना देंगे हम तुम्हारा।" यह काम निपटा कर जब पण्डित फारिग हो गया तो बहुत हल्का महसूस करते हुए कहने लगा– "सोच कर आया था साला···किसी को ऐसा पकडूंगा···मारूंगा कि रूह खुश हो जाए।"

मुझे लगा माँ पर कमोवेश वैसी ही मनःस्थिति तारी है। हम विषयांतर कर उसके मन से यह जटिल स्थिति टालना चाहते हैं। मैंने उसे उस देग के बारे में बताया। वह पलट कर बोली– हाँ जैसी जांबां साहब की देग होती है···वैसी होगी। "नहीं माँ तुम देखो। जब इसमें चावल पकते होंगे तो कितना अद्‌भुत लगता होगा। हज़ारों लोगों को एक ही देग से परोसा जाता होगा।" वह उठी। अपनी जिज्ञासा

रोक न पाई या मेरे आग्रह को टालना न चाहा शुक्र है वह कुछ सहज तो हो उठी। वह देख कर लौट आई और चलने का आग्रह किया। 'कहा न मैंने जांबां साहब की देग जैसी होगी' वैसी है···ज़रा सी बड़ी होगी। उसने ऐसे कहा जैसे जांबां साहब की दरगाह उसकी अपनी दरगाह, जांबां साहब उसके अपने और उसकी देग उसकी अपनी। जब अपनी देग इतनी बड़ी है···फिर यहाँ यह क्या आश्चर्य।

तांगेवाला स्वतः- स्फूर्त गालियों से घोड़े को नवाज़ रहा है और एक सैनिक धुन पर जैसे घोड़े को दौड़ा रहा है।

"–ए-तेरी माँ की··चल।" वह बोला और तंग सड़क की भीड़ में से तांगे को निकालता है। हिमा उसकी गालियां सुनकर आश्चर्य और विस्मय का भाव मुख पर लाती है।

"····ऐ·········चल····तेरी·········।"

"–अम्मा पाकिस्तान चलोगी ?" उसी रौ में वह माँ से बतियाना भी चाहता है। हमारे कान खड़े हो गए। प्रश्न पूछ कर फिर वह घोड़े को चाबुक मारने और गालियां देने में जुट गया।

"–हमें मुसलमान समझ रहा है।" हिमा बोली।

"–अम्मा कश्मीर से एक घोड़ा लाऊंगा···कश्मीरी घोड़ा।" मैं डर रही हूँ कि माँ कहीं प्रतिक्रिया न कर दे। वह हमें दिखाना चाहता है कि वह भी कश्मीर से प्यार करता है। यदि माँ ने प्रतिक्रिया की तो उसका सारा सही-गलत उल्लास और हमारा इस तांगा सवारी का आनन्द टूट जाएगा।

घोड़े से उतरते हुए उसने कहा–

"बख्शीश दो बख्शीश। मैं ख्वाजा का बंदा हूँ। ····दुआ करूंगा," मैंने उसे बख्शीश दी।

"–अब सीधे कश्मीर जाओगे···· ?" उसने पूछा।

"–अभी दिल्ली रुकेंगे····।"

"–खुदा करे कश्मीर जल्दी आज़ाद हो मैं खुदावंद करीम से दुआ करूंगा।" कहते हुए वह घोड़े को सहलाने लगा। शायद उसे एहसास हो रहा था कि उसने घोड़े को काफी चाबुक मारे।

"–तुम्हारी दुआ का असर ही नहीं हो रहा···कहाँ मिल रही है आज़ादी।" मैंने कहा।

"आज़ादी···आज़ाद तो वैसे हैं ही।"

"–कैसे ?"

"–अरी बहन अपनी ही कौम रह रही है···हिंदू सब निकल गए हैं···रही हिंदुस्तानी फौज तो एक दिन बुरी मार खा के निकलेगी···देखना···फिर अपना ही राज हुआ न ?" जैसे वह मुझे हौसला बंधा रहा हो। फिर क्षण भर बाद दृष्टि दूर टिकाकर दार्शनिक अंदाज़ में वह बोला– वैसे आज़ादी भी मिलेगी इंशाअल्लाह···मिलेगी-ज़रूर···हम सब दुआ कर रहे हैं···।" और वह लौटने के लिए तांगे पर बैठ गया। अबकी बार उसने सबकी दुआएं जोड़ दीं···पहले वह अपनी दुआओं का ही ढोल पीट रहा था···जैसे मसले पर उसने अब ज़्यादा गहराई से सोचा हो। मैं उसके भीतर अपने धर्म से जुड़े समकालीन हालात संबंधी चेतना की दाद दे रही थी। कुछ दिन पूर्व हम दस-बारह कश्मीरी निष्कासित एक केन्द्रीय मंत्री से मिलने गए थे तो उसने आश्चर्य से पूछा था– "अभी कश्मीर के हालात ठीक नहीं हुए ?" उसे कुछ मालूम ही नहीं था और देश की इतनी ज़िम्मेदार गद्दी पर बैठा था। उससे लाख गुना बेहतर यह तांगे वाला है। वांचू प्रायः इन लोगों की इसीलिए प्रशंसा करता है कि 'धर्म के नाम पर ही सही··· ये लोग एक तो होते हैं···' माँ के मुख पर अब व्यग्रता-सी थी।

"–क्यों माँ···।" मैंने पूछा।

"–कुछ नहीं··· तांगेवाला क्या बोल रहा था ?"

ऐसा हो ही नहीं सकता था कि माँ बातों का मर्म न समझे। पर वह शांत बनी रही, यह कितनी बड़ी बात है। मैं उसको हृदय से धन्यवाद दे रही थी।

हम सामान उठाकर प्लेट फार्म पर जाने लगे। फिर दिमाग में वह रविवार कौंध गया जब आंगन में एक शॉल वाले को शारदा देवी ने बुलाया था। माँ ने पूछा था– कश्मीरी हो ? वह मुस्कुराया था···इस विश्वास के साथ कि हम उससे अच्छा सुलूक करेंगे और उसका सौदा बनाने में उसकी मदद भी।

पर माँ बिफर पड़ी। बुरा-भला कहने लगी। अपनी बेघरी-दरबदरी का समूचा दोष उस अकेले पर मढ़ने लगी। ···माँ विक्षिप्त सी हो उठी···उस पर घर के छिने जाने का पागल उन्माद-सा छा गया। शॉल वाले ने गठरी को धीरे-धीरे वापस बांधा। शारदा देवी सहम सी गयी···माँ के साथ घोर सहानुभूति जाग गई उसमें। मैं माँ को शांत करने में जुट गई और बड़ी कठिनाई से उन्हें कमरे में आने को राजी किया। पता नहीं क्या-क्या बोली माँ···उसका गला भर्राया और आँखों से समुद्र बहना शुरू हुआ। घर के विरह में पगला उठी···विरह गीत गाने लगी और···गीत उसके अपने निकल रहे थे···घर के दरवाज़ों···खिड़कियों···घर को जा रहे रास्तों··· उसके ऊपर उड़ते पक्षियों···रोटी के लिए नियम से आने वाले कुत्ते तक को माँ ने क्षण भर जी लिया···मैंने रोती-गाती हुई माँ को एकाकी छोड़ दिया···शारदा देवी माँ के लिए पानी

लाई···मैं दीवार से सटी सटी···सुन्न चेतना के लिए प्रार्थना करने लगी···प्रतीक्षा करने लगी माँ में धीरज के लौटने की। वह क्षण प्लेट फार्म तक जाते हिमा को सुनाया। हिमा ने एक गहरा और लम्बा निश्वास बाहर फेंका।

"–हम जो कुछ कर ही नहीं सकते, अपने ढंग से समस्या हल करने लगते हैं, जैसे तांगेवाला, जैसे हम, जैसे माँ।" हिमा बोली।

OO OO

जनसत्ता में श्री रामविलास शर्मा का व्याख्यान छपा है। कितने असत्य जो हमने ही कहे, प्रस्थापित किए और उनका फल भुगत रहे हैं। इसमें किसी का क्या दोष। जब झूठ शुरू ही हम ही से हुआ।

कवि महजूर ने शारदा लिपि की अनुशंसा की थी। या शारदा लिपि के लिए ज़ोरदार ढंग से उठ खड़े हुए थे। यह ख़बर रामविलास जी दे रहे हैं, रामविलास जी को बंसी निर्दोष ने दी है। विषय रोचक है, शोध का है, खोज का है। एक आश्चर्यजनक सूचना है ···क्योंकि प्रचलित सत्य इसके उलट है। और दूसरी बात। रामविलास जी कहते हैं कि कश्मीर प्रवास के दौरान बंसी निर्दोष के घर की बगल में एक हिंदू घर में यज्ञोपवीत हो रहा था। वे यज्ञोपवीत के गीत गा रही थीं। तो निर्दोष जी ने बताया कि ये गीत 'महजूर' ने लिखे हैं।

'महजूर' हमारे श्रद्धेय हैं, हमारा गौरव है। पर निर्दोष जी ने जो सूचना रामविलास जी को दी है वह तो निरा-सफेद-झूठ है। ये गीत तो श्रुति माध्यम से अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। तभी इनमें प्राग् वैदिक संस्कृत शब्दों की भरमार है। यहा तक कि आजकल इसमें बहुधा समझ में भी नहीं आ रहे हैं शब्द, संस्कृत कोश देखना पड़ता है। 'महजूर' तो उन्नीसवीं-बीसवीं शती के कवि हैं। वह प्रगतिशील-रूमानी कवि थे। समन्वय के ज़ोरदार पक्षधर। तारतम्य नहीं बिठा पा रही हूँ। हम स्वयं ही कितनी गलतियां कर रहे हैं···कहाँ-कहाँ···किन-किन चक्करों में पड़कर इस असत्य से कितनी दूरगामी हानियां हो सकती हैं···इन परिस्थितियों में। हम भी झूठ को मैल की तरह ढकने का काम करते आए हैं। ताकि सुन्दर और प्रभावित करते हुए दिखें। इस काम से अब सहसा स्वयं को ऐसा नंगा किया कि किसी ने उढाया तक नहीं कुछ। उन्हें दुनिया सुन्दर मान रही है और सत्य जानते हुए भी नंगा करने का साहस नहीं कर पा रही।

OO OO

"ऊपर एक सेक्स की किताब है और नीचे हनुमान जी की पुस्तक। –हनुमान जी का भला सेक्स से क्या संबंध मेरी तरह।" मैंने कहा और वाक्य पूरा करते ही

लगा जैसे मैंने स्वयं को नग्न कर दिया हो। मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। मैंने हिमा को अपने अंदर की गांठ दिखा दी शायद।

–वैर भी क्या····सेक्स से हर किसी का सम्बन्ध है इसमें क्या है। बात कह चुकने पर मैं किस संकट में पड़ी हूँ हिमा ताड़ गई····तभी सहज होकर उत्तर दिया। जैसे कह रही हो····इसे सहज लो····तुमने कुछ अश्लील नहीं कहा····एक बड़ा सत्य है। सामान्य हो जाओ····या कह दिया तो भूल जाओ····। मैं व्याकुलता से घिर जाती हूँ। थैला और शरीर पूरा टेरेस से टिकाया। अभी-अभी मैं जो बिना सेंसर किए बात कही उसी के मुक्के से उबरना चाहती हूँ। वह शायद मेरी अन्तःस्थिति समझती है। हम दोनों में जो मौन है वह मुझे ज्यादा आपत्तिजनक लगता है····रहे सहे मेरे पर्दे उघाड़ता लगता है। उसमें और मुझमें शालीनता की जो दीवार है····वह न टूटे और मैं उसे तोड़ रही हूँ।

"–पता नहीं मैं क्या-क्या बक देती हूँ····" वह मेरी बात का उत्तर नहीं देती। मैं लम्बी सांस लेती हूँ और चल देती हूँ।

OO OO

इस संसार का उत्तमांग क्या अमेरिका है ? और नीचे की इन्द्रियां गरीब देशों में। यानी ब्रह्माण्ड पुरुष नेत्र-सुख, सौंदर्यवर्धन और अन्योन्य स्वाद अमेरिका में करता है और तीसरी दुनिया में मूतता-हगता है। मानवाधिकार भी वहीं है। यानी मानव कहीं भी हो अधिकार वहीं है। यदि अधिकारों के लिए हांक लगानी है अमेरिका के पास जाओ। देखा यह जाता है कि क्या अमेरिका मानता है इस बात को कि हमारे अधिकारों का हनन हुआ है। अपने ही देश में। देश में कुछ नहीं कहता कोई। शायद हमें कहना नहीं आता।

OO OO

बच्चे चिड़ियाघर जाते हुए चप्पे-चप्पे पर पिता को याद करते रहे। पापा ने जब वनमानुस देखा तो बोले– "अब बूढा हो गया है। उम्र सारी गुज़ार दी यहीं।" –जैसे वह वहीं हो जिसे वर्षों पहले उसके यौवन में पापा ने देखा हो। क्या पता वह हो भी वही।

दिमाग में बहुत कुछ एक साथ गड्ड-मड्ड रहता है। कभी किसी से फ़ोन पर की वार्ता, किसी कार्यक्रम में सुना कोई समकालीन यथार्थ, या उस यथार्थ पर कोई चुटकुला, किसी पुस्तक को पढ़ने के लिए तनाव, या किसी पर अपनी राय कायम करने की। कोई बात जो मेरे संवेदन में किसी कविता का जल बनने से पूर्व वाष्प रूप में घुमड़ रही हो। विचित्र सी हालत है आजकल दिलो-दिमाग की। स्थायी रूप से एक चिंता

काट खा रही है कि आर्थिक उदारीकरण में हम किस स्थान पर होंगे। मज़दूरी को लेकर कितनी चिंता है आजकल।

OO OO

इन्द्रियों में भयानक झनझनाहट है। पता नहीं क्यों। अकेलेपन का घुन जिस्म को कुतर रहा है। सपने में शेखर ने ढेर सारा प्यार किया···तुष्टि तक···अम्मा फूलों में बैठी मुझे पुकार रही थी···मुझे उस पर प्यार आया। क्या वह मुझे पुकार रही थी ? यह तो तय है···वह अपने प्रिय के करीब है···फूलों में है···पर मुझे भला क्यों पुकारने लगी। मुझे तो तबाह कर गई वही औरत। नन्हें शिशुओं पर भी करुणा न की। और शेखर का प्यार ? जो नहीं है वही है स्वप्न।

पापा मेरे साथ पेंशन लेने गए। पापा बैंक की एक कश्मीरी पण्डित लड़की से बहुत डरते हैं जिसने आसानी से पापा के पेंशन में हुई भत्ते की वृद्धि लागू न की। वह हमें देख कर ही···परेशान हो उठती है। हमें देखते ही उसके सहयोगी ने उसे कुछ संकेत किया। उसने हमें देखते ही कहा– "सिर चढ़ गया है··· चढ़ाया जो ··· हाथ दिखाना···हाथ कटवाना होता है।" उसने कहावत कश्मीरी में कही। पता नहीं बेचारे गरीब पापा ने क्यों, कब उसका हाथ खाया और अंततः भत्ता जारी करने में दूसरे समुदाय के प्रबंधक ने हमारी मदद की। यह हमारे समुदाय का एक और स्थायी रूप है जिसकी बानगी अभी-अभी कहावत बोल गई। मैंने यह कहावत एक विदड्राअल पर्ची पर दर्ज की। स्मरण आया शेखर का वह कहावत कोश जिस पर वह उन दिनों काम कर रहा था, जब अभी मुझे घर से निकल जाने को नहीं कहा था। जो कि मेरी ढेर सारी बहुमूल्य किताबों, बच्चों के जन्म प्रमाण-पत्रों, कुछ अन्य जरूरी कागज़ों तथा मेरी एक मात्र बीमा पॉलिसी के साथ वहीं रह गया। और वह क्षण जब मेरी अनुपस्थिति में उसके सामने अम्मा बैठी समझा रही थी कि मैं कितनी बुरी हूँ और मुझे कैसे घुट-घुट कर मारना है, और कि यह काम मात्र वही कर सकता है। वह उसे प्यार से सुन रहा था। बात का उपसंहार अम्मा ने जाते-जाते कहावत से किया–

"–व्यथी ! कवय छख ग्रज्जान ? आगरय।"

"–नदी ! कहां से गरज रही हो ? स्रोत से ही।" यानी मैं अपने पति को देखकर, उसका अथाह प्यार पाकर ही गरज रही हूँ। यानी मेरा सांस लेना, जीना गरजना है···मेरे जीवन का अंत होना अवश्यम्भावी है। मेरे रोंगटे खड़े हो गए। स्तंम्भित ! मैं 'सिरहाने का तोता' नहीं, एक आत्मसम्मान-सनी व्यक्ति हूँ। यही मेरी आत्म-संस्कृति···मेरे दुःखों का स्रोत। नहीं इसके अतिरिक्त भी कुछ। मैंने सोचा था शेखर पानी का पानी; दूध का दूध करेगा। पर उसने कलम उठाकर माँ से सुनी कहावत कोश

के लिए नोट की और हंसता रहा जब मुझे सामने पाया तो मुँह उतर गया। या उतार दिया।

मैं और पापा बैंक से लौट रहे थे। जगह-जगह वह मेरा हाथ पकड़ना चाहते हैं···मुझसे उस भूगोल का क ख ग समझना चाहते हैं जहाँ वह उलझ गए हैं, जहाँ न उन्हें कहीं आदि दिख रहा है, न अंत। जैसे बच्चा जन्म लेने के बाद और धीरे-धीरे होश की सीढ़ियां चढ़ते हुए नित आश्चर्य में रहता है। संसार के होने, या ऐसा होने तथा वैसा न होने का कोई कार्य कारण सम्बन्ध उसकी पकड़ में नहीं आता और इतिहास में जाते हुए अपने लिए ढेर सारी संवेदनाओं का दाना-पानी चुगता है···बोझ लादता है। तब उसकी दृष्टि में इस संसार का एक स्थिर-मान्य अक्स स्थान पाता है···जिसमें वह उम्र-भर दौड़ता रहता है। सार्थकता-व्यर्थता बोध लिए-अवान्तर समयों पर।

इन दिशाओं की, इस जगत के भूगोल की लगाम जो इन वृद्धों के हाथ आई थी, वह एकाएक टूट गई। न घोड़े रहे। न घुडदौड़ की कला। न दिशाएं···न लगामें असहाय···अनाधार···एक भ्रम। मृत्यु से पूर्व मृत्यु।

"–अब कुछ-कुछ समझ रहा हूँ इन रास्तों को, पर अभी भी बस से उतर कर कई क्षण तक समझ नहीं पाता किस रास्ते मुड़ना है। रास्ते हैं भी काफी।" पापा इत्मीनान से बस की सीट पर बैठते हुए मुझसे कह रहे हैं। मैं उन्हें और इत्मीनान दिलाती हूँ कह कर कि वे अपने ऊपर यह भूगोल समझने का दबाव न डालें। यह शहर वृद्धों, और बच्चों के लिए खतरनाक है। मैं जो हूँ···उन्हें इस प्रकार की चिंता क्या करनी।

"–नहीं बेटी··· तुम्हारा समय भी तो कीमती है··· इसीलिए।" उनकी आँखें सजल हैं। वे फिर घर लौट गए हैं। उन्हें लगता है बस में बैठा हूँ' घर लौटूंगा। मैं खिड़की से देखते हुए कहती हूँ– "हम संगतरे खरीदना भूल गए···देखिए कितने अच्छे संगतरे हैं।" बच्चे की ही मानिंद उनका ध्यान लौटाने के लिए···संगतरों के लिए नहीं।

OO OO

ब्यूटिशन का चेहरा मुझे देख कर चमक उठा। शायद सुबह से उसके यहाँ कोई ग्राहक नहीं आया इसलिए।

"–यस मैडम"···वह उठ खड़ी हुई–फैशल ?

"–विच वन ?"

"–ऐनी।" जो मुझ पर जंचेगा।" मरना भूलो और जिओ। 'लेकिन यह सब किसलिए ? मेरा कोई प्रेमी भी नहीं' क्या इसलिए कि सुना है वह आजकल इसी

शहर में है क्या पता कहीं मिलने ही आएं। कहीं देख ही लें···शायद मुझे फिर पसन्द करें। "ओह हेल हेल हेल···यू ब्लडी वूमेन···यू···।"

····"कोई प्रेमी ?"

····"क्या कमी है पुरुषों की···पर मुझसे पुरुष का दम्भ झेला नहीं जाएगा। ····अच्छा है एक के माध्यम से ही जाना जाए··· समूचा वर्ग···।"

"–उफ् तुम नैतिकता में पड़ती हो···।"

"–ज़रा भी नहीं···मैं उससे प्यार करती हूँ···तुम औरत नहीं···पता नहीं क्या हो···ऐसे पुरुष पर थूक तो दो···।" ठीक है वही सही अभी तो इतना ही···मैं सचमुच एक विचारहीन औरत हूँ··विचार आगे बढ़ाता है··मैं पीछे बैठी हूँ···वहीं···वहीं···और वह कहाँ पहुँचा···।"

"–यदि कोई क्षण युगों तक रोके रखे··रुकना चाहिए···ऐसे क्षण को धकेलने से बहुत कुछ ढह सकता है समझी···।"

"–फिर दार्शनिक तर्क···यू···ब्लडी।"

"–मुझे बख्शो···मेरी खुद की समझ नहीं आता···पर···पर मैं अपने लिए···अपनी ऊब मिटाने के लिए····अपने से प्यार करने के लिए सुन्दर बनना चाहती हूँ।"

"–तुम सुन्दर हो···।" हुंह···फिर वह मुझे छोड़ नहीं देता···।"

"–आँखें बंद करिए मैडम···।" सामने के शीशे से मेरा युद्ध विराम। वह मालिश कर रही है।

"–आँखें बंद करिए मैडम।" वह तीसरी बार ऊँची आवाज में··लगभग डांटते हुए कह रही है। फिर भी मेरी आँखें बार-बार खुल जाती हैं। उसे लगता हो शायद कि मैं अपने को देखने में ज़्यादा रूचि रखती हूँ···उसे क्या पता मैं अपने साथ कैसा युद्ध लड़ रही हूँ··और देख भी तो रही हूँ···वह क्या गलत समझ रही होगी। इस अधेड़ उम्र में ये युवतियों के चोंचले। ···जैसे अभी-अभी यौवन आया हो। वैसी ही एकाकी जैसी यौवन के अभी-अभी आने पर कोई होती है। क्या पता अपनी आँख बंद करूं और अपने ही सौंदर्य पान से वंचित रहूँ।

"–देखिए–आप आँखें बंद रखिए···फिर देखिए कितनी राहत मिलेगी आपको।" वह डांट ही देती है। मैं शर्मसार होती हूँ। मैं अब दृढ़ होकर आँखें बंद करती हूँ और उसकी मालिश का सुख चीन्हने लगती हूँ। मैं ऐन्द्रिक हो उठती हूँ··· पूरी तरह रूमानी···शरीरी। वह मुझे ज़ोर-ज़ोर से मालिश कर रही है, मुझे ऐसा महसूस हो रहा है जैसे प्रेम के अंतिम क्षण···ओह यह मुझे क्या हो रहा है···मैं अपने आधे

शरीर में हूँ···मुझे अपना आधा ज़िस्म चाहिए। ब्यूटीशन की छोटी बहन बाहर कैसेट बेच रही है। उनकी दादी उन्हें खाना देने आती है।

"–ममी क्या कर ही है ?" मुझे मालिश कर रही बहन छोटी बहन से पूछ रही है।

"–कपड़े धो रही है।"

पता नहीं मुझे क्यों लगा कि उनके घर में कोई पुरुष नहीं है। मैंने ऐसा खाका क्यों खींचा ? स्त्रियां स्वयं-सम्पूर्ण जीवन चला रही हैं। पर स्वयं सम्पूर्ण नहीं हुआ जा सकता···यह अभी-अभी के कुछ क्षणों से सिद्ध भी तो हुआ।

जहाँ पानी नहीं है वहाँ पुल बन रहा है और मेरे अंदर शब्द बनते हैं–

पानी नहीं है पुल
क्यों बना रहे हो दोस्तो।
ऐसा कर तुम कौन गुल
खिला रहे हो दोस्तो।

वाह ! वाह ! मैं··· स्वयं को स्वयं ही दाद देती हूँ। व्यक्ति अपने साथ अपने भी क्या-क्या कर नहीं सकता। अपने साथ क्या कुछ नहीं कह सकता···मसलन मेरा खुद को ही दाद देना। पर आजकल ऐसा हो भी रहा है···जहाँ पानी नहीं वहाँ पुल बन रहे हैं और जहाँ उफनती नदी है···वहाँ पुल ढह रहे हैं··क्या नहीं हो रहा ऐसा ?

माँ बिस्तर में लेट गई और लेटते ही बोली–घर से चल देते थे तो दसेक दिनों में ही कितना 'लोल' आता था न घर का ? चार साल बीत गए···'लोल' नहीं आ रहा कहाँ गया जाने। 'लोल' जान गया उसे नहीं आना चाहिए। 'लोल' मेघ हो गया जो भीतर-भीतर बरसता रहता है··· 'लोल' पत्थर हो गया और बैठ गया हमारे मन-मस्तिष्क पर हमारी शक्ति से परे। 'लोल' एक फूल नहीं रहा 'लोल' कितना विराट अंधकार हो गया अब···पहाड़ सा। कैसा होगा आजकल घर ? माँ'लोल' की खोजी है···'या अनुसंधित्सु। मैं इन क्षणों के बीत जाने की प्रार्थना में चुप हूँ। माँ को नींद अपने पाश में ले। मैं धीर-धीरे उठकर बत्ती बुझा देती हूँ।

○○ ○○

फिर हेरथ। मैं और पापा मिलकर सफाई कर रहे हैं। बच्चे स्कूल और माँ मंदिर गई है। मैं आज काम पर नहीं गई हूँ। पापा मुझे पोंछा और पानी की बाल्टी पकड़ाते हैं। पहले मैं उनके कंधों से होते हुए दुछत्ती पर चढ़ती हूँ। –यह हमारी ऊपर की मंज़िल है– है न ?" पापा कहते हैं। –हाँ··· झाड़ू पकड़ाइए पापा।" वह झाड़ू

पकड़ा देते हैं। मैं एक-एक चीज़ उन्हें पकड़ा रही हूँ। पॉलिथिन के बेकार हुए थैले। कुछ गत्तों के डिब्बे...कुछ चटाइयां भी पापा को पकड़ा देती हूँ। ऋजु की एक टूटी-फूटी साइकिल- जो कबाड़ी को देने की चीज़ है– जो उसने कभी अत्यन्त दया में पाई गई भीख की तरह अपने पिता से हासिल की थी। पर वह अभी भी सीना तान कर सबसे कहता है कि उसक घर पर अल्मारी में जापानी रेल और एक बढ़िया... सी साइकिल है। खिलौनों से भरा एक पूरा संदूक है। उसकी दृष्टि में वह सब अभी भी अक्षुण्ण है...वैसा ही जैसा कि उसने छोड़ा था...उस रात जिस रात शेखर ने हमें घर से निकाल दिया था।

पापा को यदि संदेह भी होता कि कहीं से धूल आ रही है...सबको खड़ा कर देते–आज धूल के ग्रास निगल रहे हैं। और वह भी हंसते हुए। मैं उन्हें थोड़ा दूर हटने के लिए कहती हूँ...ताकि मैं जाले साफ करूं पर वह ज़रा सा सरकते हैं। वह अधिक से अधिक मेरे काम में मेरे साथ शरीक होना चाहते हैं। हम काम करते हुए चाहते हैं कि माँ के आने तक हम कमअज़ कम दुछत्ती तो साफ कर दें।

थैले उठाकर मैं दूसरी तरफ रख देती हूँ। साफ करके फिर वापस अपनी जगह रखती हूँ। इस दुछत्ती पर कबाड़ की चीज़ें हैं। मगर हम इन चीज़ों को कबाड़ में देने की स्थिति में नहीं हैं। घर में गृहस्थ इन्हीं से भरा-पूरा है...वर्ना घर खाली-खाली नज़र आएगा।

मैं यत्न से एक गठरी को साफ-सुथरी रखे हुए हूँ। इसमें शेखर के वे सभी कपड़े हैं जो उसके हमें यहाँ छोड़कर भागने पर रह गए थे। वह उस समय हमें किसी भी कूड़ेदान में फेंक कश्मीरी विस्थापितों की हित-रक्षक संगठन को मज़बूत करना चाहता था। "पत्थरों की पूजा...गृहस्थ को सज़ा।" प्वतलयन पूजो...बाच़न इज़ाह।" अब वह...एक से एक विदेशी पोशाक रखता है...इस गठरी को देख उसे घिन्न भी आ सकती है...पर हमारे लिए अमूल्य निधि है...एक महान नेता के वस्त्र। ऐतिहासिक गठरी... जब उसने कौम के लिए सब कुछ त्यागा...पत्नी बच्चे...वाह...वाह। और एक कीमती (स्तरीय) चीज़ है– उसका ब्रीफकेस। शेष एक फटा सा थैला है जिसमें पुराने ऊनी मोज़े हैं...कुछ पुरानी ऊन भी। बच्चों के कुछ पुराने कपड़े, कच्छे और बोतलें। ऋजु, की साइकिल। चटाइयां और पीर बाबा का थैला जिसमें चिंता के हर क्षण में नियाज़ डालती हूँ...कुछ मुट्ठी चावल और पीर बाबा से प्रार्थना करती हूं...मदद के लिए। और पीर बाबा करते भी हैं।

मैं दुछत्ती पर चीज़ें करीने से रख रही हूँ। एक टीन का डिब्बा जिसे एक दिन मेरे गृहस्थ के सामान में इज़ाफा करने की गरज़ से हिमा लाई थी हाथ आता

है। देखती हूँ इसमें शेखर के एक चित्र की तीन कॉपियां हैं। मैं चित्र को गौर से देखती हूँ। वह हंस रहे हैं। कहीं कुछ खास नहीं होता मेरे अंदर। मैं स्वयं की पीठ थपथपाती हूँ......स्वयं को बधाई देती हूँ। –क्या है....?" पापा काम में रुकावट देख पूछते हैं।

"–कुछ नहीं शेखर का फोटोग्राफ।" वे सुनकर तेज़ कदमों से बाहर जाते हैं।

मैं चित्र को पूर्ववत डिब्बे में बंद रखती हूँ। और आगे के काम कर रही हूँ। दुछत्ती साफ हो गई और पापा नहीं लौट रहे। पता नहीं वह तुरन्त बाहर क्यों गए। मानो शेखर सचमुच आ गए हों और हमें अकेला छोड़ना उनका कर्तव्य बनता हो। मैं पापा की प्रतीक्षा कर रही हूँ। चाहती हूँ....उन्हें पुकारूं....आइए पापा शेखर चले भी गए। काम आगे बढ़ाएं। वह मुझे चीज़ें पकड़ाएं और काम समाप्त हो। मुझे हल्का गुस्सा आता है। कैसे हैं पापा। भूल गए कि मैं दुछत्ती पर हूँ....और उतरने में भी असमर्थ हूँ।....मैं पापा....पापा पुकारती हूँ.... फिर चुपचाप दुछत्ती पर बैठी रहती हूँ। कहीं कोई जाला दिखा तो साफ करती हूँ। पापा आते हैं।

"–आप कहाँ गए थे?"

"–सोचा बीड़ी पी लूँ।"

"–पी ली?"

"–हाँ।"

"–तो दीजिए ऋजु की साइकिल और ये चटाइयां।" वह पकड़ाते हुए पूछते हैं–फोटोग्राफ संभाल के रखी न?"

"–हाँ।" मैं एक रूखा सा उत्तर देती हूँ। चाहती नहीं वह प्रसंग छिड़े। वह अपना कंधा आगे करते हैं, मैं उतर जाती हूँ। अब नीचे इन अंधेरे कोनों को साफ करना है।

साफ करते हुए लगता है एक मोटी सी परत जो सूख भी चली है–फर्श पर है।.... 'शायद बिल्ली हग गई है'–सोचती हूँ और टीन की धार-धार प्लेट से साफ करती हूँ। स्वास्थ्य के लिए कितना हानिकारक घर, वह भी बूढ़ों और बच्चों के लिए। पर मैं कर भी क्या सकती हूँ। हमारे अंधेरे कोने कितनी मैल से सने रहते हैं। खूब रगड़-रगड़ कर साफ किया। लगता है गुफा चमक रही है।

"–हिरण जो भव्य जंगलों में रहते थे....अंधेरे गंद भरे पिंजरों में डाल दिए गए हैं....वक्त के चिड़ियाघर में।"

"–सफाई अभियान चल रहा है?" शारदा देवी पूछती है।

"–बस प्रतीक सफाई है। कहाँ तो एक हफ्ता लगता था पूरे घर की मंज़िल दर मंजिल सफाई में। पहले हम घर में रहते थे और प्राणों से उसकी सफाई करते थे मजाल कि कोई कीड़ा भी हग जाए·····बिल्ली की बात ही क्या। अब घर के बाहर हैं हमें। लपक कर घर हमारे अंदर चला गया। प्राण बंदी हो गए। टूटे·····हाथ····· पैर वाले प्राण। बस प्रतीक सफाई है। घर पर पता न कितने जाले, कितनी धूल और मैल चढ़ी होगी······अगर जला न होगा अभी। किसी सपने में हैं······सपना देख रहे ····अरे वह तो कब की आगे बढ़ चुकी है····मैं यों ही इतनी बकबक करती रही। खैर यह बकबक प्रायः हमारा विरेचन करता है, चिंताओं का। यह भी न हो तो जियें कैसे। हम काम आगे बढ़ा रहे हैं। माँ भी अब हमारी मद्‌द में जुट गई है।

धूप का दानव जन्म ले रहा है। अब ज़बर्दस्त तेज़ी से अपना आकार बढ़ाता चलेगा। एक डर भरी हवा अंदर चली जाती है। चार साल हम खूब तपे, सिंके और डटे रहे। इस वर्ष एक छोटा कूलर खरीद सकती तो ईश्वर की सम्पदा में क्या कमी होती। एक आशा भरी ठण्डी फूंक मैं यत्न से अंदर भर देती हूँ। पहले की तप्त भय-लहर का ताप कम करने के लिए। धूप लेकिन मेरी आँखों में टक्करें मार रही है।

इन सड़कों को देखकर भयभीत हो रही हूँ। वे दिन याद आ रहे हैं जो इन सड़कों को मापते बीते। मेरा पसीना खूब इन सड़कों का स्वाद बना है। ज़रूर ये मुझे भी पहचानती होंगी। मैं जैसे नज़रें नहीं मिला पा रही हूँ इनसे। इन्होंने मुझे लाचार देखा है। निरीह और निस्सहाय होते जाने की मेरी ज़लालत के एहसास से ये वाकिफ़ हैं। मैं क्या इन पर सीना तान कर चल सकती हूँ ? यह अशोक़ रोड। इसके ग्यारह नंबर में मैं घण्टों बैठी हूँ। एक मुहताज। हाथ में एक मैला सा पॉलिथिन का थैला लिए···· जिसमें तमाम नेताओं के नाम अर्ज़ियां थीं। मैं उस नेता के सामने आंसुओं से सन-सन जाती थी। आंसू रोकने की मेरी तमाम कोशिशें बेकार जाती। ऋजु को सांस की तकलीफ किस तेज़ी हो रही थी। मैं यहाँ उन दिनों नियम से रोज़ हाज़िरी देती। वहाँ के लोग मुझे पहचानते और मेरे सामने, मेरे साथ सहानुभूति रखते और मेरी नज़र बचा कर मुझ पर हंसते और शायद गंदी-गंदी····बातें करते····या कुछ भी। मैं बस अनुमान लगाती और निर्विकार बनी रहती। मैं उस सबको अत्यन्त सहज मानती। कभी-कभी उनसे बेहद आत्मदया भरी बातें करती। मुझे लगता वे तक मेरी मदद कर सकते हैं।

मैं ऑटो-रिक्शा में बैठकर उस पत्रिका के दफ्तर जाती हूँ। पैदल सफ़र के लिए आज स्वयं को अक्षम पाती हूँ। धूप बर्दाश्त नहीं होती। मैं सोचती हूँ– वे दिन अप्रैल के थे····मध्य अप्रैल····और अभी तो परसों ही मार्च का पहला दिन था।

मैं वहाँ यह बात सबसे कहती हूँ। कितनी तुच्छ खुशी है····पर खुशी है कि मैं यहाँ तक ऑटो से आई हूँ।····मानो हवाई जहाज़ से आई हूँ····बहुत बड़ी ऐय्याशी की है मैंने। वे कितना हंस रहे होंगे। फिर मुझ पर दया कर रहे होंगे। पर ये वह निहित बीज क्या जाने कि हमारी तुच्छ रईसी में ही बड़ी रईसी के सपने हैं। हमारी दुःख-मुक्ति के सपने हैं। बहुत सारा प्रकाश है जिसका मैं अंदाज़ लगा रही हूँ। जो अंधेरे को धकेलता हुआ हमारी तरफ यात्रा का प्रस्थान कर चुका है। धीरे-धीरे प्रकट हो उठेगा सामने।

सम्पादक मेरी हाल ही में छपी कविताओं को अच्छा बताते हैं। पर उनके हाथ में मेरी कविता उन्हें कुछ अच्छी नहीं लगती। उनके मन में मेरे सम्बन्ध में प्रश्नों का एक बड़ा सा पुलिंदा होगा। मुझे याद है वह मेरी उस दुःख-मुक्ति के वास्तविक सेतु।

OO OO

कॉफी हाऊस में पांव पसार कर बैठी हूँ। 'उनका' इंतज़ार कर रही हूँ। बैरा फिर पूछता है····मैं कहती हूँ····अभी ठहरो वे आएंगे। वह वापस मुड़ जाता है। सोचता होगा····कैसे यार का (यारों का) इंतज़ार कर रही है, जो आते ही नहीं। मुझे उसके मन में गलतफहमी बोने में मज़ा आया। दरअस्ल उसे क्या लेना-देना। वह तो सारा दिन यही देख-देख के बिता रहा है बुद्धिजीवियों की बहसें, बुद्धिजीवी प्रेमियों का नयन-नृत्य। इसके लिए यह सब बोगस होगा।

थोड़ी देर में 'वे' नमूंदार हुए। अब मैं बड़बोलेपन की मुद्रा अख्तियार करती हूँ। कुछ बातें उनके मकसद से हटकर स्त्री के दलितत्व और उसमें निहित उसकी शक्ति पर झाड़ती हूँ। आत्म-सांत्वना और तुष्टि से भरकर उनका कार्यक्रम सुनकर उठती हूँ। आज होराष्टमी है। एक पाव पनीर तो खरीदना ही चाहिए। 'कोंडुल' मात्र बची कांगड़ी में माँ गत्ते जला रही है ताकि उसमें गूगल जला सके। वह खास सुगंध वाली गूगल जम्मू से लाई थी। मैं इसमें डालती हूँ।

ऋजु को सुगंध भाती है– "ममी दरवाज़े बंद कर दो।" वह तेज़ आवाज़ में कहता है।

"–क्यों ?"

"–ममी कश्मीर की खुशबू है····समझती क्यों नहीं हो दरवाज़े से भाग जाएगी····बंद कर दो प्लीज ममी दरवाज़ा।" उसकी रगों में बहती है मातृभूमि। उसकी प्राण-शक्ति में रची-बसी है वह। उसके हृदय में उसका वास है। मैं अवाक् खड़ी हूँ। समझ में नहीं आता किस भाव से सराबोर हूँ। व्याख्या नही कर पाती व्याख्या

से परे इस क्षण की। दरवाज़ा बंद कर देती हूँ गुफा का।

OO OO

नाम है जावेद। चाहिए एक पंद्रह लाइनों का एक्सचैंज। उसे मैगनैटो चाहिए। पता नहीं किस लिए। वह कहता है पावर-हाऊस के लिए। साहब विश्वास नहीं करते। वह कहते हैं– "हम आपको उससे बेहतर ऑटो एक्सचैंज दे रहे हैं··।" "–पर उसका रैंज कम है····।" जावेद कहता है।

वह मेरे ऐन सामने बैठा कश्मीरी बलाघात के साथ अंग्रेज़ी, असहज अंग्रेज़ी बोलता है– और कश्मीर के हाल कैसे है ?" –बस बद से बदतर समझिए।" न हिंदुस्तान उसे छोड़ेगा न····। आगे उसने कुछ न कहा –न पाकिस्तान बनेगा।" यह अपने मुँह से उसे कहना अशुभ लगा शायद। मैंने भी ताड़ कर कह दिया– न शांति होगी ? "क्यों" यही कहना था आपको या और कुछ ?"

–हाँ·· हाँ·· हाँ···· उसकी आँखें चमक उठीं। उसे मैंने एक ठीक-ठाक स्थानापन्न दिया था अधूरे वाक्य का। अस्ल में उसे क्या कहना था वह जानता है कि मैं जानती हूँ। यह वही पुरानी परम्परागत पर्दानशीनी है। मुझे याद आता है जब हम छोटे थे तो एक दिन पापा गांठगोभी ले आए थे····दफ्तर से वापस आते हुए। माँ चकित। जिस आदमी को सब्ज़ी जैसी चीज़ लाने से कभी सरोकार नहीं रहा उसने सब्ज़ी क्यों लाई।

"–आज किस खुशी में सब्ज़ी लाए हो····?" माँ ने पूछा था।

"–अरे तुमको नहीं पता····कहते हैं कल पाकिस्तान बन जाएगा।"

"–क्या उ उ।" माँ ने विस्मय से ताकते हुए कहा।

"–हाँ मैंने सोचा घर में दो तीन दिन की सब्ज़ी रहे···· जब तक सब शांत न हो जाए।"

"–क्या मूर्खों जैसी बातें हैं। कल पाकिस्तान बनेगा तो हिन्दुस्तान हाथ पर हाथ धरे बैठा रहेगा ?"

"–इसमें क्या है रज़ामंदी से कुछ भी हो सकता है····अगर मरे मारे बिना कुछ भी हो, तो बढ़िया है····कहाँ है ससुरी हिंदुस्तान। अगर पाकिस्तान ही बने तो क्या फर्क है····हमें अपने वतन से गरज़ है····वह हमारा यही है····नामों में क्या रखा है····हिंदुस्तान हो या पाकिस्तान।"

–तुम पागल तो नहीं हो गए ? दिन भर म्लेच्छों में बैठ-बैठ मति-भ्रष्ट हो गई है। और माँ पापा में एक अच्छा-खासा युद्ध। हमने माँ का उन्माद-भरा साथ दिया था। पापा मौन हो गए थे····हार कर।

कितना सही था पापा का दृष्टिकोण। देश कहाँ होता है। वे भी कश्मीर में हम भी कश्मीर में। वे पाकिस्तानी···हम हिंदुस्तानी। कश्मीरी होना भूलकर। दोनों की मति मारी गई। पर कौन समझाए। मुझे लगता है जैसे दोनों पराये घरों की पहरेदारी कर-कर के अपने घरों को लूटने के लिए छोड़ दिया। दोनों की समझ कब लौटेगी। लौटेगी तो क्षण-भर फिर वहीं जुनून-तारी।

रसूल कहते हैं दागिस्तान दुनिया को देखने की खिड़की है। हमारा घर भी वैसा ही था। हम खिड़की से तन्मय हो दुनिया देख रहे थे कि पीछे से किसी ने धक्का दिया···उन्हें भी हमें भी। हम नीचे···तहस-नहस···लहूलुहान महज़ खिड़की को देख रहे हैं। धक्का देने वाला···उठाएगा थोड़े···बल्कि मरने के लिए हम पर पथराव करेगा।

जावेद की आँखों की चमक से मैं तिलमिला गई थी– लेकिन शांति तो एक दिन होगी ही। अवश्य होगी। उसे होना ही है।"

"–सो कैसे ?" वह बहस के कुचक्र में पिसना शुरू हुआ।

"–ज़रूर होनी है शांति एक दिन। और वह भी अपने-आप। आप स्वयं उसका चुनाव करेंगे। यही कुदरत का उसूल है।"

–आप यह कैसे कह रही हैं···ज़रा बताइए। अब ऐसी बात नहीं है। मिट जाएंगे लोग पर जेहाद नहीं छोड़ेंगे। भले ही सैकड़ों वर्षों तक लड़ाई चलती रहे।

तो उसने कमर-कसी है। मेरे सामने जावेद एक मुज़ाहिद बैठा है। यह तय है। कोई संशय नहीं इसमें। मगर मैं भी उसकी कमर तोड़ देना चाहती हूँ।

–देखिए मिस्टर जावेद···यही है न नाम आपका ? इस समय क्या कोई घर ऐसा बचा होगा जहाँ कम से कम एक ट्रेजेडी नहीं हुई होगी।

"–यह आपने बिल्कुल सही आंका।"

"–तो यह औसत दर जब बढ़ेगी तो फिर शांति की तरफ पहिए का रुख घूमेगा। स्वयं शांति आएगी··· थके हुए लोगों की तरह युद्ध थमेगा।"

"–आप लोगों ने सबसे बड़ी भूल की जो आप वहाँ से चले आए भाग कर।"

"–भूल ? नहीं भूल नहीं। यही सबसे बड़ी समझदारी का कदम था हमारा। आप में जो अमन पसन्द थे···वे भी तो भाग आए हमारे साथ-साथ।"

"–एक भी नहीं···बखुदा···एक नहीं। और इसे आप समझदारी कहेंगे···।" उसका चेहरा तमतमा रहा था। उसका आतंकवादी उसके चेहरे पर आकर छा रहा था।

"–जी हां।"

"–तो फिर आप वापसी के लिए बेचैन क्यों है ? बैठे रहिए अपने हिंदुस्तान

में ।"

"–हिंदुस्तान में आप भी तो बैठे हैं । लेकिन आपकी जान को कोई खतरा नहीं है···· वह हमारी मातृभूमि है····हम उसी के लोग हैं····वहाँ वापसी के लिए बेचैन न होंगे तो कहाँ जाएंगे । यहाँ तो पनाह ली·····जान के खतरे के कारण । यहाँ बैठे हैं इंतज़ार में ।"

है न यह जावेद आतंकवादी ? मन से आतंकवादी । दागी न उसने अभी-अभी एक गोली ? एक बेरहम गोली । मैं घायल तो हूँ । पर धीरे-धीरे उठकर मोर्चा सम्भालना चाहती हूँ । इसे ऐसा कहना चाहिए क्या ?

–यह भी कोई बात हुई । मादरे वतन है हमारा । उस मिट्टी में हम उगे हैं । अपना वतन है । उसमें वापस नहीं जाएंगे तो कहाँ जाएंगे भला । कौन रोक सकता है हमें वहाँ जाने से । एक दिन बंदूक रहेगी पर उठाने वाले हाथ न रहेंगे मिस्टर जावेद । खाद हो जायेंगे । धरती के भीतर जंग लगा लोहा हो जायेंगे बंदूक । हम ही तब आपको जिलाने आयेंगे । आप भी कहोगे····चलो । एक भयानक रात थी बीत गई । एक खूंखार सपना था । गया ।"

"–ऐसा नहीं होगा ।" वह बोला । मैं तमतमा गई । पर क्यों ? है न यह पक्का आतंकवादी । अब कोई संदेह नहीं ।

"–आपको कश्मीर नहीं छोड़ना चाहिए था ।" मुझे लगा कि मुझे यह खामख्वाह की बहस बंद कर देनी चाहिए । मगर मैं इस युद्ध को इस तरह अनिर्णीत नहीं छोडूंगी ।

–चलो मान लिया, मगर उस समय आप पर आज़ादी का जुनून ऐसा चढ़ा था कि जिनके पास बंदूक नहीं थी वे भी दहशत पैदा करने में पीछे नहीं थे । यह मानसिक आतंकवाद ज़्यादा खतरनाक होता है भाई । वर्ना हमारे पड़ोसी क्या हमें रोकते नहीं । उनका फर्ज़ नहीं था । पर आपने सोचा कि इसी से आज़ादी, इस्लामी निज़ामे मुस्तफा, तमाम खुशियां आयेंगी । अब आई ?"

"–पड़ोसी क्यों रोकते ? क्यों भला ? आपने खुद गलती की ।"

"–गलती नहीं की····आपकी माँ-बहनों पर सुना है सूडानी, अफगानिस्तानी काफी कहर ढा-रहे हैं ?"

"–नहीं····नो····रांग····एकदम रांग····कतई नहीं ।"

बस अब इसे दफा हो जाना चाहिए ।

"–चाय पीजिए मिस्टर जावेद ?"

"–नहीं····नहीं ।" उसने ऐसे मना किया मानो मैं चाय नहीं ज़हर के लिए

आग्रह कर रही होऊं। और मैंने अपने को अपने काम में एकाग्र करना चाहा।"

"–कितनी देर लगेगी आपके इंजीनियर को आने में ?"

"–आप कल आइए।"

शुक्र है वह दफा हो गया।

OO OO

सामने 'अली मुहम्मद बाबा एण्ड कम्पनी' का ख़त है। साहब ने यही देने के लिए बुलाया है। ख़त अंग्रेज़ी में है। अभी-अभी मैग्नेटो टेलीफ़ोन खरीद कर ले गए हैं। 'सी' फार्म देने का वचन दिया था। वचन निभाया। इस ख़त से संलग्न 'सी' फार्म भी आया है। ख़त बड़े प्रेम से लिखा हुआ।

"–आपने जो सहयोग दिया····उसके लिए धन्यवाद····दरअस्ल आपने बहुत देर तक निर्वाह करने वाला दोस्त बनाया है।"

'देर तक' ? बस ? 'हमेशा के लिए क्यों नहीं ! दरअस्ल बाबा कुछ यथार्थवादी है। हमेशा की किसे पता। इसीलिए···· लांगलस्टिंग।" एवरलास्टिंग···· संसार में कुछ नहीं। शायद इसीलिए। कहीं इसलिए तो नहीं कि एवरलास्टिंग उसने अशुभ सोचा हो। क्या पता कभी आज़ादी मिल ही जाए। फिर तो व्यापार भी कराची-लाहौर के साथ चलेगा। जहाँ तनाव बीच में पनप रहा हो वहाँ कोई ताज़ा झोंका आए उसे बड़ी सावधानी से सूंघ-सूंघ कर श्वास लेना चाहिए। उस हवा की जितनी हो सके सांसें लेनी चाहिए। कामनाओं की विचित्र रस्साकशी है। हम चाहते हैं····हम कभी न टूटें। हमारा जन्मदाता भूखण्ड, हमारे हम वतन···· हमारा मिलन हो इनसे। क्या हुआ इस समय हम वनवासी हैं। वनवास खत्म होने के लिए होता है। लेकिन वे सोचते हैं कि हम न मिलें कभी। कहते हैं वतन सिर्फ़ बहुसंख्यकों का होता है। क्या वतन सचमुच सिर्फ़ बहुसंख्यकों का होता है ?

तीन सप्ताह पूर्व जब अली मुहम्मद बाबा का वह युवा-पार्टनर आया था तो मैंने उससे कोई बात किए बगैर चाय पीने का अनुरोध किया था। मुझे जावेद का तल्ख तज़ुरबा था इसलिए। पर यह उसके उलट था। उसने चाय नहीं पी थी। वांचू उन दिनों कम्प्यूटर के किसी काम के लिए वहीं था। चालान-बिल की हस्तलिपि उसके सामने पड़ी थी। वांचू ने नाम पढ़ा तो हरकत में आया। केबिन से बाहर आया। बाबा के पार्टनर को पहचाना, गले मिला। उसका चेहरा खुशी से गुलाबी हो आया।

"–इन्होंने मुझे चाय पीने का बहुत अनुरोध किया····अरे यहाँ तो अपने ही सभी लोग कितनी खुशी की बात है। मेरे लिए इससे बढ़कर चाय क्या होगी।"

"–क्या हाल हैं वहाँ के ?" मैंने अब बात करनी ही चाही।

"–इंशा अल्लाह ठीक हो जाएगा सब। हालात सुधर रहे हैं। आप अब जल्दी आएंगे।"

"–तथास्तु, तथास्तु।" मेरा मन रटता है। पर भीतर-भीतर। चुपचाप। कहीं उसे सुनाई न दे। क्या पता उसने हमारे लिए इतने अच्छे शब्द कहे हैं या सचमुच यही इसकी कामना भी है। चोरों की मानिंद कामना करते हैं हम। मानो यदि हमारी कामना उन्हें पता चली वह उसके उलट करना शुरू कर देंगे। हमारे सामने···हमारा मन रखने के लिए ही उसने शुभ तो बोला। हमारी कद्र तो की। वर्ना ईश्वर हमें दुःखी करने पर ही तुला है।

"–रात दिन बंदूक का डर लगा रहता है।" वह कहता है जिसमें एक कुरूप सत्य पारदर्शी है। फिर भी यह सब सोद्देश्य है न ?

"–सुना है अफगानों, सूडानों ने कश्मीर को बेपर्द···बे आबरू किया है ?"

उसने सिर्फ़ हामी भरी।

"–यदि मेरे लायक कोई सेवा हो तो ज़रूर बताइएगा।" बाबा ने ख़त में लिखा है। ख़त जैसे विदेश से आया हो। मैंने ख़त को बार-बार छुआ। यह ख़त वहाँ की रोशनी, हवा, ज़मीन छूता हुआ आया है। ऐ मेरे प्यारे वतन··· ओह। चलो एवरलस्टिंग न सही, लांगलास्टिंग ही सही। लांग ही एवर बनेगा। इंशाअल्लाह। तुम कभी हमसे आज़ाद न होओगे। तुम्हारी मुक्ति हमारे साथ होने पर है। मुक्ति इस दुर्बुद्धि से। मुक्ति इस दुरभिसंधि से। मुक्ति इस गलत कामना से। हमारी मुक्ति होगी मातृभूमि से अलगाव से···इस दूरी से। वास्तव में हमारा मिलन ही हमारी मुक्ति है। फिर हम दोस्त नहीं एकात्म होंगे। हम हवा, हम ज़मीन, हम···हम···हम होंगे। हम तुम और तुम हम होंगे।

OO OO

पीछे की गली अच्छा खासा जंगल है। इन मकानों की पांत में जितने बच्चे हैं इसी में हगते हैं। दुर्गन्ध बनी रहती है। इस दुर्गन्ध सनी हवा को हम पीते रहते हैं। कभी-कभी सोचते हैं घर बदलेंगे···पर डर लगता है···आखिर चूल्हा भी तो जलना चाहिए।··· यहाँ दुरुस्त क्या है ? घर लौटने की सम्भावनाओं का कोई अता-पता नहीं। नेता धड़ों में बंटते जा रहे हैं।

कल एक गंज खोपड़ी नेता गली में मिला।

"–कैसी थी मेरी प्रेस कांफ्रेंस ?"

"–बढ़िया। काकों के हाक का क्या कहना। यह देग में पड़ते ही गला समझो।"

"–हम पाँचों ने दुकान खोली थी। इसमें सबसे चालाक भेड़िये ने पहले अश्विनी को धक्का मारा और सिर के बल गिरा दिया नीचे····धूल चटाई।"

"–फिर ?"

"–फिर क्या। फिर डॉ०····को···· और फिर ऐमा को।"

"–"फिर मेरी बारी थी। पर ऐसा नहीं कर पाए। हिम्मत नहीं हुई।"

"–इतनी देर में आप दुकान में से खुद ही उतर गए और अलग दुकान खोली। है न ?" वह खूब हंसा। खुश हुआ। ईश्वर तुम सबको सन्मति दे। लोग तो अन्ततः ईश्वर के ही भरोसे हैं। तुम्हारे नहीं।"

"–नहीं होम लैण्ड तो अपनी जगह। पर और भी मुद्दे उठने चाहिए। जम्मू में अब बड़ा आयोजन करेंगे।"

मसखरों की एक जमात। अपना 'टाइम पास' और दूसरों का 'टाइम वेस्ट' कर रहे हैं।

OO OO

किचन में बोरी बिछाकर ऋजु को पास बिठाया ताकि मैं भी खाना पका सकूँ और वह भी काम करे। किचन में सब समाधिस्थ जीव अब अपनी-अपनी समाधि से उठ रहे हैं। श्रीकृष्ण के चित्र के पीछे सदा एक छिपकली छिपी रहती है। कर्मोंवाली। इतने प्रेम करने वाले भगवान के पीछे किसी गोपी-सी दुबकी रहती है।

सांप के बच्चे जितना कनखजूरा प्रकट हुआ। पहले तो कांप गई। दूसरे क्षण उसे पकड़ने के लिए तैयार हुई तीसरे क्षण जब देखा कि वह मेरी पहुँच से बाहर है फिर याद आया कि मुझे कहना चाहिए था सलाम अलेकुम कनखजूरे। मुझ पर सदा कृपा दृष्टि बनाए रखियो जी महाराज। मैंने जीवन सलामों की अनगिन कतारों में बिताया। अभी बुधवार को शिवरात्रि के दिन इस किचन की जब खूब सफाई की तब दो कनखजूरे दिखे थे। एक बच्चा-दूसरा बड़ा। यह उन दोनों से बड़ा है। शायद पिता कनखजूरा हो। उन दोनों को मैंने बाहर की गली में फेंका था। विस्थापित किया था। दोनों को देखकर मुझे मकान-मालिक पर बहुत गुस्सा आया था। मानो उसने धोखे से कमरा हमें भी और उन्हें भी यानी एक साथ दो-दो किरायेदारों को दे रखा हो। अब या तो वह निकलें और हम रहें या हम निकलें और वे रहें। यह सरासर अनैतिक है। मैं बाहर आई और क्रुद्ध मुद्रा और कुछ ऊंचा स्वर करके बोली–"बड़े कनखजूरे हैं आपके इस किचन में····बड़ी मुश्किल है।"

"मकान मालिक बड़ा शातिर है····और मैं एक गरीब····मूर्ख····निराश्रित किराएदारनी। उसने उत्तर में अपनी मुख मुद्रा अर्थपूर्ण-व्यंग्य की मुस्कान से लाद दी–

यहाँ की भूमि ही ऐसी है ।" बोला– "क्या करें टुमरी की ममी । कुछ नहीं कर सकते ।" मैं क्या कहती । मैं अपनी कही बात की पड़ताल करने लगी । मैंने जैसे उससे ऐसे कहा था मानो वह, इस घबराहट में कि मैं कहीं कमरा खाली न कर दूँ, कनखजूरों से कहेगा कि भाई कमरा खाली कर दो क्योंकि मैं उसे पैसे देती हूँ और वे मुफ्त रह रहे हैं । पर कमरा तो मूलतः कनखजूरों का ही है । मेरी क्या बिसात । अच्छा नहीं है कि हम दोनों प्रेम और सद्भाव से रहें एक ही कमरे में । वे मेरा ख्याल रखें और मैं उनका । मैंने दो कनखजूरे क्या पकड़े कि अपने को तीसमार खाँ समझ बैठी । कुछ महीने इस मकान मालिक ने शांति से क्या रहने दिया कि मैं समझने लगी कि यह मेरा ही कोई गुण है····और लगी उसे उलटा धमकाने । गरीबी में मूर्खता भी कूट-कूट कर देता है ईश्वर ।

OO OO

रसूल कहते हैं कि माँ कहती थी चिड़िया ने चोंच मारी तो सोता निकला । समुद्र बना । चिड़िया को हम चिड़िया समझते हैं और अथाह समुद्र का कोई माप नहीं । दरअस्ल चिड़िया ने चोंच नहीं मारी । एकाग्र मन से इच्छा की, कामना की । छोटी सी चिड़िया में समुद्र सी आत्मा । कामना उसी माध्यम से हुई । हम सभी मिल कर इस चिड़िया समान भी नहीं । जबकि हमारे भीतर बड़े-बड़े तथाकथित स्वनामधन्य। हमारी प्रार्थनाओं में एकाग्रता नहीं। शक्ति नहीं। या हम प्रार्थनाएं····कामनाएं करते ही नहीं । हम करते क्या हैं ?

यह लगभग बारह वर्षों पहला स्वप्न है । आगे की सड़क से जुड़ी गली में एक विमान आकर गिरा था । भयानक घबराहट फैल गई थी । मैं विमान के पास गई थी और देखा था कि विमान से सैनिक बाहर आए थे । कुछ जीवित । जिन्होंने फिर विमान के अंदर मृत सैनिकों को एक-एक कर बाहर निकाला था । जान में जान आई । कि जो मरे थे, सैनिक थे । जो जीवित थे····सैनिक थे । कोई चेहरा परिचित नहीं····गोकि वह अपराध-बोध जी रही हूँ····वह इत्मीनान मेरे समुदाय का चिरस्थायी भाव था । क्या हमें उसी मृत्यु का वरण नहीं करना चाहिए था ? बाहर खूब झंझा है । खूब शोर मचाती हुई । जैसे वहीं से आई हो । आजकल ही तो बहती है वहाँ ज़ोर-ज़ोर की हवाएं । कि कुछ सुनाई नहीं देता सिवा हवाओं की आहटों के । 'सोंत वाव' । वसंत देव प्रेम में पागल हैं । पृथ्वी को बावरे की तरह चूम रहे हैं । इसी प्रेम से जान आती है हर चीज़ में जो शिशिर के सतत-हिम से जड़ हो चली हो ।वसंत प्रेम की क्रांति है कि दिनों में सफेदों की कोंपलें, बादाम के फूल, नरगिस (यंबरज़ल) चिनार की कोंपलें ··· दन दनादन करती निकल आती हैं । अब तक धरती घुटनों में सिर रखे बैठी

थी। वसंत आए और धरती की ठुडी को हथेली में रख उसकी नीची नज़रों को ऊपर पिघलती बर्फ के आंसुओं में हंस दी। जब प्रिय आते हैं, ऐसा ही होता है। हंसी का झरना आंसुओं के कुंए में से फूट पड़ता है।

कुछ वर्ष पूर्व जब ऐसी ही हवा थी वसंतागम पर तो करीमशाह वाला सफेदा हमारी छत्त की टीन से टकराता रहता। भयावह आवाज़ें निकलतीं। हमने करीमशाह से कितनी विनती की थी कि वह कृपा करके उस सफेदे को वहाँ से उठाकर दूसरी जगह उगा ले। वह हमारी छत को बराबर नुकसान पहुंचा रहा था। पेड़ साल-दर-साल बड़ा-मोटा भी तो हो रहा था। करीमशाह अकड़ गया था। पण्डितों की मजाल कि एक तो हमारे साथ रहे दूसरा हमारे पेड़ की मार इनकी छत न सहे। हम चुप हो गए थे। मुहल्ला-अध्यक्ष से फिर विनती की थी उसने भी करीमशाह के साथ आँख मार कर औपचारिक विनय की। और फिर हंस दिए दोनों। हमें उत्तर मिला। करीमशाह ने फिर औपचारिक विवशता जतलाते हुए कहा था कि हमें बर्दाश्त करने की कूवत बढ़ानी चाहिए। सवा महीने के बाद करीमशाह अचानक गुज़र गया। तब उसकी बीबी ने आरी लाई और हमारी छत को सफेदे की मार से मुक्ति दी। अब वह भयानक आवाज़ें नहीं आती थीं। अब बस हवा की तूफानी और धीमी सरसराहट। पता नहीं क्यों मुझे लगता है कि वह पेंड़ फिर उग गया होगा और हमारे घर को हिलाता होगा। करीमशाह की मोटी बीबी भी उसी वर्ष गुज़र गई थी। अब उनका बेटा था। दढ़ियल और उत्साह से भरा। मस्जिद का माइक जेहाद के लिए हमारे कानों में फिट की थी।

हवा ऐसा ताबड़तोड़ मचाती कि मैं पगला उठती कि कौन सी खिड़की पहले बंद करूं। सत्रह-अठारह खिड़कियों को बिल तरतीब बंद करना शुरू करते हुए मैं सोचती कि कैसे जल्द अज़ जल्द तीनों मंज़िलों की खिड़कियां भिड़ा दूँ। वसंत देव धरती से प्रेम कर रहा है कि हमें ही शर्म से अपनी खिड़कियां भिड़ानी पड़ती।

यहाँ ज़ोरों की हवा चल रही है। बाहर से आवाज़ का अनुमान लगा रही हूँ। मगर मुझे कोई खिड़की बंद नहीं करनी। सोचती हूँ हवा को एक ज़ोरदार धक्का मार कर हमारा दरवाज़ा खोल लेना चाहिए। ताकि मैं उठकर उसे बंद कर दूँ····कम से कम रीति का निर्वाह करने लिए। कुछ झोंके पी लूँ····कुछ बात कर लूँ उससे। कुछ हवा हो जाऊं उसके साथ। कुछ ज्यादा तड़पूं····कुछ रोऊं और फिर सोऊं····एक स्वप्न में।

मगर कितनी शांति है। हमारा परित्याग किया गया है। और हम अपने परित्याग को प्रारब्ध मान रहे हैं। हवा एक दिन तुम्हें आकर मेरा दरवाज़ा खोलना पड़ेगा····अनुनय से। हाथों से नहीं, माथे से। 'वटुक महाराज' की तरह। वरदानों के उपहारों से

लैस। हवा ! तुम अवश्य आओगी।

OO OO

उड़नखटोले को मैं चला रही हूँ। मेरे हाथ में लगाम जैसी कुछ चीज़ है। यह मेरे हाथों में है तो अवश्य पर मैं चलाना कहाँ जानती हूँ। इसे चला कोई और रहा है। कौन ? चौकोर द्वीप। अरे कोई द्वीप चौकोर भी होता है ? तीन तरफों से फैली भरी-भरी वितस्ता। इस द्वीप के एक कोने के निकट पहुँचते ही हिमा चिल्ला उठती है– यह देख "मंगल राज।" मैं बता नहीं रही थी कि यह वही जगह जहाँ मुकदमा चल रहा है। मुसलमान इसे अपनी मस्जिद कहते हैं और हिंदू अपना मन्दिर। उस दिन हवन की सारी हवि-सामग्री नष्ट की थी उन्होंने। देगचियां तोड़ दी थी। हवन कुंड में मैल डाल कर उसे अपवित्र किया था । तब पुलिस आई थी और 'मंगलराज' के द्वार पर मोटा सा ताला लगाकर चली गई थी। पानी में एक द्वीप था वह। पानी में उस दिन ढेर सारे गुलाबी और पीले कमल खिले थे।.....वह देख उसकी भव्य मूर्ति।" हिमा उंगली से दिखा रही है। अरे हाँ बुद्ध की मूर्ति सी विराट....लाखों श्रम दिनों और कला मस्तिष्कों का केन्द्र यह मूर्ति तब कहाँ दी। मानो तन्हाई से क्षुब्ध बाहर आई हो चलकर नीले आकाश को देखने....पक्षियों से बोलने....हवा छूने....बाहर मोटा ताला है न।" नीम सुर्ख रंग की मूर्ति....साथ में उकेरे हैं....प्राक् ऐतिहासिक लिपि के अक्षर।

और अब वितस्ता। हर तरफ से उसे देखती हूँ। अपने नियम को न तोड़ते हुए। स्वस्थ। एक ठेठ कश्मीरी औरत-सी। साग खा-खा के पुष्ट। हिमालय का प्रेम और कमाई पा-पा के सारी दुनिया से बेखबर। अरे मैं क्या कहती हूँ। वितस्ते प्रणाम। तुम्हारे हर तरफ को प्रणाम। कितना पारदर्शी है जल। तुम कितनी अविचल हो समय की सुगम-वापसी में दृढ-आस्था के कारण। हमारा मार्ग सधा हुआ है। आगे है ऊंचा विराट चिनार। बल्कि....लो देख लो....दो चिनार। इतने फैले और विस्तृत कि कहीं आदि अंत ही न दिखे। सोचती हूँ इसकी फैली इन टहनियों से हमारा खटोला टकराएगा और हम सीधे नीचे वितस्ता की गोद में। उस बिंदु तक पहुंचते ही वह अपनी टहनियां भुजाओं की तरह ऊपर करता है....मानो ड्योढी बना रहा हो औरे हमें जाने देता है। देखा बच्चों को कोई पिता मारता नहीं।" मैं हिमा से कहती हूँ। निकल आता है नीले आकाश का पूरा चांद। ड्योढी से निकलते हुए हमने चिनार को झुक कर प्रणाम किया और एक विराट मैदान में उतरे....जो एक जल प्रवाह का कूल है। अब खटोला नाव हो जाता है। क्या टेक्नालॉजी है....पर आगे पता नहीं किस भंवर में डुबोयेगा।" हिमा सुनती है और बेहद हल्का मुस्कुराती है। मानो कहती हो कि सदा तुझे अपनी

जान प्यारी रही। मानो उसकी मुस्कान में इन सारे रहस्यों का जटिल-जाल सुलझा हुआ हो। या कह रही हो····क्या फर्क पड़ता है····इस भंवर की मृत्यु भी श्रेष्ठ। फिर हम वीतरागी। पर• नाव लहरों को चीरती है और हरी-हरी भूमि का ठांव नज़र आता है।

यह क्या ? यह कौन था जो उड़न खटोले को तय मार्ग से उड़ा रहा था, जिसने उसे फिर नौका में रूपांतरित किया। और जल मार्ग से मुझे एक विशाल समारोह स्थल पर उतारा। अरे वाह ! हिमा ! तुम्हें कुछ पता है। वह बड़ा सा बागीचा····हरियाली से अंटा पड़ा। जहाँ हमारे सब परिचित जन बेहद खुश। शताब्दियों बाद मिले। यहाँ वितस्ता, चिनार ने हमारे लिए ड्योढियां बनाई। सीना फूल गया था चिनार का खुशी से। वितस्ता दुल्हन सी लग रही थी। दुःख-मुक्ति का उत्सव चल रहा था। मैंने वितस्ता को प्रणाम कहा। सच मैंने उसे झुककर प्रणाम कहा। मैं ज़ोर देकर कह रही हूँ। मैं हिमा को वह स्वप्न शब्दों में दिखाना चाहती हूँ। पर उसके मुख पर एक मुस्कान-मात्र स्थिर है जो बच्चे के बात सुनाते जाने पर बड़े के मुख पर रहती है। पता नहीं वह मेरे एहसासों की तीव्रता समझती भी है। मैं फिर वहीं लौटती हूँ फिर सुन रही। उस समय कहे वे शब्द–प्रणाम वितस्ते। प्रणाम वितस्ते।

आँखें मल रही हूँ। हृदय की धुक-धुकी तेज़ है। हिमा खूंटी पर लटक रही चुन्नी को उतार कर सिर पर लेती है और बाहर दौड़ती है।

मेरे सामने क्या-क्या है। बर्तन, आटा, जलता हुआ चूल्हा, चूल्हे पर तवा और इनके पार दहलीज के ऊधर कमरे की अंधेरी गुफा जहाँ बच्चे सो रहे हैं····और हिमा के लौटने की प्रतीक्षा।

कल मकान मालिक के बेटे ने कहा था– रास्ता नापने के लिए। रात भी उड़न खटोले में उड़ती रही। अब सोचती हूँ कौन रास्ता नापूं ? कहाँ जाऊं ? कल हिमा और मैंने कई मकान देखे। मैं हिंमा से बार-बार कहती रही– हिमा आज तुम मेरे साथ हो और बच्चों के इम्तहान भी खत्म हुए हैं, मुझे इन गलियों में चलना आता है। जैसे तुम मेरे साथ रोशनी की तरह हो या अपाहिज की लाठी की तरह। मेरी आँखें भीग रही हैं और आँखों का भीगना हिमा को पसन्द नहीं। भले ही वे अनायास भीगें। या हठात् भीगें। हठात् उन्हें खुश्क रखना है। पिछले वर्ष जब मैं इन गलियों में इस हालत में चल रही थी तो लग रहा था जैसे धुएं और अंधेरे में से जा रही हूँ। प्रश्नों की उत्तरहीनता ही एक बड़ा सा उत्तर है अब।

OO OO

जब रेडी उलट गई, ठाकुर जी सड़क पर गिर पड़े। सामान हमने हड़बड़ी में उठाया था। भाग्य से रेडीवाला कुछ हमदर्द ही मिला था इसलिए हमदर्दी से ही चीज़ें भी उठा रहा था। जब मैंने पलटा खाई रेडी की चीज़ें उठाकर समेटना शुरू की तो कटोरी और ठाकुर जी हाथ लग गए। दिल धक् से रह गया। माँ पर क्रोध आया उसने आंचल में बांधने के बदले ठाकुर जी को भी मय-कटोरी के रेडी में ही डाल दिया था।

"–माँ तुमने ठाकुर जी को भी रेडी में ही डाल दिया···हे भगवान···मैंने कहा था कि कृपा करक इसे आंचल में बांध लो।" –क्या आंचल में बांधती ? देखती नहीं थरथर कांप रही हूँ। जीभ सूख गई है···सूख क्या चाक हो गई है। थैले हाथों में इतने हैं कि उंगलियां तक कटने को है। तुझे ठाकुर जी की पड़ी है।

"–माँ कैसी बातें कर रही हो ! मैंने इसीलिए कहा था कि तुम इसकी ज्यादा ही भक्त हो। ज्यादा ध्यान रखोगी···मुझसे भूल होती···तुमसे नहीं।"

–इसे हमारा ध्यान रखना चाहिए या, हमें। फिर तुम्हीं इसकी पूजा करती हो। सड़क पर गिरा तो क्या हुआ। इसे पता नहीं हमारा क्या हाल हो रहा है। क्या ज़लालत हो रही है। क्या इससे छिपे हैं हमारे हाल ? फिर ? मैंने अपनी पगलाहट को कम करना चाहा। यह माँ कैसी बातें करती है। एकदम उल्टी। मैंने साड़ी के छोर से ठाकुर जी को बांधा ज़ोरदार गांठ के नीचे। माँ की बातों से चक्कर आ रहे हैं। यह माँ कहती है। क्या उनकी आस्थाएं कहीं उलट गई है। क्या हुआ है ? ··ख़ैर।

मैंने पास के प्रेसवाले को बुलाया कि कृपा करके वह हमारी उलट गई रेडी को उठाने में मदद करे। रेडीवाले की मदद मैं अकेली कर ही रही थी पर कुछ नहीं बन पा रहा था।

"–फेंक दो इस फट्टे को इधर ही···हुंह मुसीबत···हिमा चिल्ला रही है।"

एक तरफ ठाकुर जी के सड़क पर गिर जाने से जो मैं व्याकुल हो उठी थी वह बनी हुई है···दूसरी तरफ माँ की बातें तीसरी उलट गई रेडी को सीधा करना। अंदर मकान मालकिन चिल्ला रही है कि हमने उसका गुफा सा कमरा खाली क्यों कर दिया। हमें इसका हर्जाना देना चाहिए। उसके इस गुफा जैसे कमरे में अब आसानी से कोई नहीं आएगा। उसकी आय का एक स्रोत बंद हो गया फिलहाल।

रेडी उलटने से खासी भीड़ जमा हो गई। पर किसी ने मदद न की। रेडी को हाथ न लगाया। मकान मालकिन को इससे काफी राहत मिली। उसका गुस्सा और

गुस्से में बकना कुछ कम हुआ ।

जब दूसरे कमरे में पहुंचे तो नई मकान मालकिन अपने किशोर बेटे से बतियाते हुए हंस रही थी । मेरे करीब आने पर आवाज़ ऊंची करके बोली– "मक्कार है यह बहन जी ।" उसकी हंसी से वातावरण की आग में जैसे तेल गिरा । मैं अपनी आग और उसी के धुंए में गुम हूँ । चुप हूँ । रेडी की तरह उलट गई हूँ । ठाकुर जी की तरह सड़क पर बिखर गई हूँ, सामान के साथ । जीवन के तमाम अवयव खुल कर जहां-तहां चीथड़ों से लहरा रहे हैं और हम उन्हें समेटने की सोच कर ही रह गए हैं ।

"–अब तुम्हें कश्मीरी आंटी खिलाएंगी ।"

"उसने आवाज़ अबकी बार और ऊंची की और ज़ाहिर है मेरा रद्देअमल जानने की गरज़ से ही यह बात कही ।"

"–क्या ?" मैंने विवश हो पूछा ।

"–सेब । कहता है अब आंटी सेब खिलाएगी ।"

–ये लो···ये रहे···इस महानगर···जिसे राजधानी का भी खिताब नसीब है···ये है यहाँ की गर्दभ-नस्ल । मैं चुप सिर्फ़ मुस्कुराई···अरे बेटे···सेब क्या हम पर उस बंदर की कहानी चरितार्थ होती है आधी । हम सेब खाए लोग । सेब से ज्यादा मीठा हमार खून और देने से चारा नहीं । आई तो हूँ पिलाने । बंदर तो वापस बैठा था एक छलांग में । पर हमारा पेड़ ? हमारी छलांग ?

माँ का गुस्सा कम नहीं हुआ है । इस कमरे के कोने में बैठी वह मुझे तिर्यक दृष्टि से देखते हुए मेरी बातों का हिसाब लेना चाहती है । इस पूरी खानाबदोशी का हिसाब माँग रही है । और अभी-अभी ठाकुर जी के प्रसंग में जो शब्द विनिमय हुआ उसका अर्थ खोलने को उकसा रही है । उसे पूरा यकीन है कि वह सही है और मैं गलत । मुझे पूरा विश्वास है कि माँ गलत है और मैं सही । माँ के विश्वासों में कहीं कुछ फेर बदल हुआ है । मैं माँ को कम से कम यह बात तो पूरी शिद्दत के साथ समझाना चाहती हूँ कि उसे ठाकुर जी को रेडी में नहीं डालना चाहिए था । रेडी इसीलिए उलट गई ।

--ओह मैंने उसे किस सड़क पर रखा था, किस रेडी में डाला था, पूरा कमरा ही उसका था कि उसने मुझे सड़क पर ला दिया, पृथ्वी ही उलट गई । तब मामूली से रेडी से क्या हुआ ? रेडी को तो सीधा कर लिया पर धरती जो उलट गई उसे कौन करे । क्या पता घर के ठाकुर जी का क्या हाल हुआ होगा । पत्थरों में फेंक दिया गया होगा···या तोड़ दिया गया होगा– क्या पता ।" माँ सच कही रही है । चाहती हूँ उसे

जो कुछ कहना है, कहे, और हल्का महसूस करे। पर माँ को यह भी कहना है कि इतने ज्यादा दुःख वह मेरे साथ होने के कारण झेल रही है। काश तुझे तेरे "ख्वाविंद ने न छोड़ा होता मैं बहू-बेटे के साथ जम्मू में होती।"

माँ मैं तुम्हारी परित्यक्ता बेटी···ये परित्यक्त मासूम बच्चे···माँ मैं क्या करूं···मुझे तुम नहीं छोड़ना···तुम्हीं मेरी प्राण वायु हो माँ अब जो भी हो तुम नहीं छोड़ना माँ···तुम ही मेरी ठाकुर जी हो माँ। "सिर्फ़ तुम।"

OO OO

यहां भी अंधेरा है। निपट अंधेरा। पता नहीं इस शहर में रोशनी कहीं है ही नहीं क्या ? मकान मालिक कह के गया कि रोज़ ऊपर का ज़ीना, नीचे का ज़ीना और दहलीज़ (जिसे ये लोग गैलरी कहते हैं) साफ करना। अब यह नितांत पराया घर अपना मान रही हूँ। और ऊपर से नीचे तक उसकी सफाई करती हूँ। हिमा कहती है हौसला रखने को। दूसरा कमरा ढूँढेंगे। जहाँ रोशनी हो और ऊपर से नीचे तक के जीने साफ न करने हों। अब अखबार तक को पहले वे पढ़ते हैं फिर तोड़-मरोड़ कर मुझे देते हैं। तब मुझे दफ्तर चल देना होता है। मेरे सारे के सारे अधिकार एक के बाद एक समाप्त होते चले जाते हैं। हिमा कहती है दिन बिताने हैं। दिन या पूरा जीवन ?

OO OO

सब उठकर '*बंदे मातरम्* ' गा रहे हैं। ओऽ माँ। दूर हुई, मुझसे अर्से से अलग हुई माँ। वंदे···माँ। जिसकी सुगंध की स्मृति मुझे खाक में मिलाती है। जिसके आकाश और गलियों में घूमते हुए मैं कोड़े खाते हुए खून-खून होती हूँ। चुप और फिर वहीं ढेर हो जाती हूँ और यहाँ लौट आती हूँ। इन गायकों की मस्ती पर कई सवाल बनते हैं मन में। इन्होंने माँ के प्रति श्रद्धा-भक्ति को भी व्यवसाय बनाया और खूब भुनाया। छोटी-छोटी टुकड़ियों में बंटकर होड़ मचाई कि कौन अख़बार में कितनी ज़्यादा जगह घेरेगा, किस पृष्ठ पर छपेगा ? कितने लोग पढ़ेंगे ? कितने अखबारों और किस-किस किस्म के अखबारों में कौन-कौन छपेगा। वह चिंतक उर्फ नेता उठकर कहता है– "रोटी चुपड़ी न हो तो विचारों में धार रहती है।"–दिल को बहलाने···नहीं हमको बहलाने को ख्याल अच्छा है ग़ालिब अपनी तो रोटी चुपड़ी भी है और विचारों में ससुरी धार भी···और हमें ढाढस देता है। अगर रोटी ही न हो तो विचार को चाटेंगे क्या ? इस हालत में अंधेरे तंबू में बैठा आदमी, जिसके नीचे से सांप-बिच्छू भी रेंग रहे होंगे, क्या कर रहा होगा। एक अधिकार-च्युत मनुष्य। तुम्हारे भरोसे बैठेगा नेताओं ? नेताओं–तुम्हें विचारों की भी अपनी ही फिक्र है और रोटी की भी अपनी

ही । मैं तुम्हारा नकद-माल हूँ ।

OO OO

टमाटर खरीदे । प्लास्टिक की टोकरी में उन्हें रख दिया । "–फ्रिज में रख दे ।" माँ कहती है ।

जब हम दिल्ली के शरणार्थी शिविर से सीधे इलाहाबाद गए थे तो मन नए स्थान से आतंकित, भय-ग्रस्त था । मैंने अल्यूमुनियम का एक बड़ा सा पतीला खरीदा पानी उबालने के लिए । ताकि बच्चों को उबला पानी पिलाऊं । क्या पता यहाँ का पानी कैसा होगा ? ताकि बच्चे स्वस्थ रहें । हमें इस स्थान के मिज़ाज मालूम नहीं । कुछ दिन बच्चों ने उबला पानी पिया । पर जब सूर्य देवता ताप तपाने लगे तब कौन वह उबला पानी पीता । प्रयाग राज की कृपा पर भी विश्वास बनने लगा । उस पतीली का इस्तेमाल अब सब्ज़ियां रखने के लिए होता है । माँ इस पतीली को 'फ्रिज' कहती है और उन्हें विश्वास है कि इसमें सब्ज़ियां कई दिनों तक खराब नहीं होती··· बिल्फुल फ्रिज की भांति । यह पतीला तब से हमारा हम सफर भी है ।

एक बार जब हमने नैनी से दूरवाणी नगर के फ्लैट में शिफ्ट किया था तो सामान के नाम पर हमारे पास दो बड़े-बड़े मिट्टी के मटके (जो पानी भर को और ठंडा रखने के लिए नैनी बाज़ार से खरीदे थे) एक अनिल श्रीवास्तव की गैस (जो उन्होंने शीघ्र ही बाद में वापस माँगी थी) यह पतीला, शरणार्थी शिविर में मिला बत्तियों का स्टोव, गद्दा, कश्मीर से लाया एक सिरहाना और कुछ छोटे-छोटे बर्तन थे । हम एक रिक्शे में सामान नैनी से दूरवाणी नगर ले गए थे । दूरवाणी नगर तक माँ रिक्शे में बैठी-बैठी रोती रही और मैं गीता दर्शन सी बड़ी-बड़ी बातें उसकी सांत्वना के लिए बघारती रही थी । पर मुझे यकीन है उसने मेरा एक शब्द भी न सुना । वह कहीं और तन्मय थी । इन चिथड़ों, मटकों, रिक्शों, दूरवाणी, नैनी से दूर पारदर्शी थी उसकी छूटी हुई भव्य गृहस्थी···जिसे वह देख रही थी ।

ऋजु अपना तकिया ढूंढ कर लाया और उस पर नया चढ़ाया गिलाफ उतार कर उसे दूर फेंक उसे सिर के नीचे रख सो गया ।

"–यह भी कोई तमीज़ है···गिलाफ निकाल कर आप तकिए पर सो रहे हैं ।"

–ममा यह गिलाफ मुझे अच्छी नहीं लगती ।

–ममा हम उस दिन यह तकिया अपने साथ लाए थे कश्मीर से···एरोप्लेन में··· तकिए का मुँह गिलाफ से छिप जाता है ममी । इस पर सोने से मुझे लगता है

में कश्मीर में सो गया हूँ ।

मैं ज़ोर से हंस दी–"बहुत बड़ी बातें करता है तू ओ ठिगने ।"

वह फिर जोड़ता है गंभीर मुद्रा में आकर–"हाँ, सच कहता हूँ ममी । फिर कश्मीर का सपना भी आता है ।"

फिर वही थक्का हुई समस्या । वही बुत बने श्रोता । वही नियमित वक्ता । एक उठकर बोला–

"–लोगों ने ध्यान रखा और सरकार को ध्यान दिलाया । पर सरकार बोली मुझे नहीं ध्यान देना ।" ब्रेख्त की कविता का स्मरण । सरकार लोगों के लिए नहीं लोग सरकार के लिए । आश्चर्य ! आश्चर्य ! समन्तात आश्चर्य ।

अपने प्रिय कवि मंगलेश डबराल का आयोवा यात्रा-वृतांत पढ़ती हूँ । अमेरिकी किसी भी इतिहास के बोझ से मुक्त है । यानी वे इतिहास-विहीन लोग । कितने मुक्त होंगे ऐसे लोग । हल्के । हमारी छाती पर चढ़ कर बैठा है हमारा इतिहास । हम बोझिल, भारी, समयारोही, समयवाहक । मन का कोई स्थल खाली नहीं । मन में इतिहास का भयावह अनुष्ठान चल रहा है । और कहीं तिल धरने की जगह नहीं । कितने लोग अतीत के, साथ के, बाद के सिर्फ़ भाग रहे, भटक रहे, टकरा रहे, पगलाए, हकलाए । इन्हें लेकर जी रहे हैं हम··· घटनाओं की घटाटोप जीवंतता के साथ ।

एक दिन आयोवा में टी.वी. खोला तो पारिवारिक समस्याओं से संबंधित कार्यक्रम चल रहा था । पत्नी दो बच्चों के साथ खड़ी है···पति की अमानवीयता की मारी । उसके आंसुओं का उसका पति मखौल उड़ाता है । पत्नी निरीह होकर कहती है कि उसकी इच्छा से ही विवश होकर तो उसने दो बच्चे पैदा किए । अब छोड़ कर जा रहा है । फिर वह अपनी सहेली के कन्धे का अवलम्ब लेकर बेलाग रोती है । पति अब कुछ ज़्यादा ही उपहास करता है उस पर ।

"लेखक कहते हैं कि अपने अकेलेपन में मैंने टी.वी. खोला तो क्या पाया ? पीड़ा । सहानुभूति । मैंने टी.वी. बंद किया ।"

मैंने भी किताब खोली तो क्या पढ़ा ? अपना ही वृतांत, वह भी अमेरिका के टी.वी. पर ।

ऐसे हादसों का टी.वी. सब बंद करते हैं । यह पूरा समाज । कोई करे भी क्या । तो मैंने भी किताब बंद की और सोने की कोशिश की । पर मैं अमेरिका की 'मैं' के पास पहुँची ।

–क्या तुमने उसके पैर आंसुओं से धोये ? और उस पर कोई असर नहीं हुआ ?

"–क्या तुमने सारी रात प्रार्थनाएं कीं ? बच्चों की बरबादी का वास्ता दिया ? अपनी तबाही का वास्ता दिया ? यह भी पूछा कि आखिर तुम घर किसके साथ बसाओगे ?"

"–कहा कि बगल वाली के साथ···घर बसाऊंगा। तुम पिंड छोड़ दो···बच्चों समेत।"

"तब क्या हुआ तुम्हारे भीतर ?"

तुम वह कैसे बता सकती हो। नहीं बता सकती। प्रलय की रात जो पीड़ा पृथ्वी के हृदय में होती है– वही। पृथ्वी कह भी नहीं पाती।"

एक अर्से बाद मेरा सिरहाना भींग उठा था। एक बड़ा सा पत्थर जिस 'आली पत्थर' मन के आगे दिया था वह ज़रा सरक गया। क्या मैंने यात्रा-वृतांत इसीलिए पढ़ा था। मंगलेश जी ने तुरन्त टी.वी. बंद किया था। पर मेरे पास ऐसा कोई स्विच सिस्टम नहीं। मैं तो फिल्माई जा रही हूँ··· स्वयं।

"–उसने कहा न कि सूर्य की प्रथम किरण से पूर्व दफा हो जाना यहाँ से।"

"तब ?"

"तब क्या ? हुई।"

"यह भी कहा कि चाहो तो बेटे को मुझे दो बेटी को तुम रखो।"

"ओ हो हो···जैसे मनुष्य न होकर दो निर्जीव वस्तुएं हों।"

"–फिर ?"

"–फिर जिस लड़की से गुलछर्रे उड़ाए एक दिन उसने कहा···कम ऑन··· जीवन की खुशियां लुटाएं···खुशियों की मदिरा में नहाएं···मिस···मल्ला।"

–उसने रोते हुए कहा– "ओ नो··· तुम्हारे दो बच्चे हैं मिस्टर···।"

–ओ गॉन विद दअ विंड···कम ऑन डोंट डेस्ट्रॉय सच मूड···प्लीज़ मैं उनका निपटारा कर आया हूँ।"

"–और···।"

–और कुछ नहीं। मैं किसी के कंधे पर सिर रख कर न रोयी। मेरे आंसू वहीं सोख लिए थे वितस्ता ने। उसे ज़रूरत थी पानी की। वह खुद रोती थी आजकल। मेरी आँखों में गर्म रेत थी। जलती रेत जिसे मुट्ठियों में भी न भर सकी।"

"–फिर ?"

–फिर ! फिर बस कुछ नहीं । लोगों ने टी.वी. बंद कर दिया । मैं टी.वी. के भीतर वैसी की वैसी बनी रही ।

"–बस···लो अब यह मंत्र । यह रिक्त स्थान की पूर्ति है । दिलासा है···पता नहीं झूठ या सच···मैं भारत में हूँ···अमेरिका में नहीं···तुम भी लो इसे···लो···।"

OO OO

"–ममी क्या चार चांदी के सिक्कों से घर बनता है ?" ऋजु पूछता है ।

"–नहीं ।" क्या खुराफात सोचते रहते हो तुम । यही सब सोचते रहते हो । ध्यान से सुनो घर न चांदी के सिक्कों से बनता है न सोने के सिक्कों से । घर सिर्फ़ प्रार्थनाओं से बनता है । घर क्या···सब राष्ट्र···पूरा विश्व···। और घर सिर्फ़ वही होता है जहाँ व्यक्ति ने जन्म लिया हो ।

"–घर प्रार्थनाओं से बनता है ?" वह आँखों की पुतलियों को कलात्मक ढंग से मेरी बात पर व्यंग्यपूर्ण आश्चर्य प्रकट करना चाहता है ।

"–हाँ ।"

"–कैसे मम्मी ?"

"–जब भी तुम्हें लगे कि हमारे पास घर नहीं । घर होना चाहिए···ध्यान लगाकर ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए···कि प्रभु हमारा घर दे ।"

"–क्या आप भी इसी के लिए प्रार्थनाएं करती हो ?"

"–हाँ, बेटा हम सब इसी के लिए प्रार्थनाएं करते हैं ।

"–सब···यानी बाबा, दिलबर, लालसाभा, मामा टाठी···सब···सोनू भैया रंजू भैया··· सब ।"

"–हाँ··बिल्कुल ।" ···सब ? सब ?

"–सब सब क्या । कहा न हाँ ।"

"–मेरा मतलब है मम्मी···क्या सब कश्मीरी ?"

"–मैंने ज़रा सा रुककर कहा–हाँ बेटा । सब कश्मीरी ।"

"–प्रार्थनाएं करते हैं फिर भगवान तो कुछ सुनते नहीं ।"

"–बेटा एक ही चीज़ से कभी ऊबना नहीं चाहिए···वह है प्रार्थनाएं···और वह मन लगा कर करनी चाहिए ।"

–ओऽ मम्मी··· प्रार्थना-वार्थना तो ठीक है···पर मेरे पास एक आइडिया है मम्मी ।

"–क्या ?"

"–मैं सोचता हूँ···इतने तो फिल्मी हीरो हैं । उन्हें-क्यों न कश्मीर भेजा

जाए···न मरेंगे···न डरेंगे···सब को मारकर कश्मीर को ठीक करेंगे। जल्दी से हम घर भी जाएंगे···है न मम्मी ?''

''मम्मी न उन्हें गोली लगेगी···न बम···बड़े-बड़े तोप खाने···मशीनगन, कोई उनका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकते···है न अच्छा आइडिया···मम्मी··· ?''

○○ ○○

और अंत में :

दोस्त का ख़त। यानी संतोषी का ख़त। लिखा है 'उस महासम्मेलन में तुम्हें न देखा तो उदास हो गया।'' अच्छा ? मन आर्द्र हो उठा। ऐसे मानो उदास वह नहीं मैं हो गई। महासम्मेलन में मैं नहीं, वह अनुपस्थित हो जैसे। यह स्थिति समझ में कम आती है पर हो जाती है। प्रखर दीप सा उसका पत्र हाथ में है।

दोस्त कितनी ज़रूरत थी अंधेरे में मुझे इन शब्दों की। कलम उठाई···तो ख़त का जवाब लिखा- अंधेरा-रोशनी के एहसास को धार देता है।···अरे क्या···ख़ैर मैं लिखूँ भी क्या इसके सिवा। है भी क्या मेरे पास अलावा इसके- इसलिए हे मित्र- तू हंसेगा, तो हंसना···खूब हंसना। अगर मैं हंसी योग्य हूँ तो सहज हंसी हंसना। खूब खुलकर हंसना और ख़त लिखना।···देखो इधर तुम्हारा पत्र आया···इधर मैंने उसका जवाब लिखा···

दोस्त ! –कल 'नवरेह' है। हमने मकान बदला था। कुल मिलाकर उन्नीस दिन हुए यहाँ आए। कल मकान मालिक ने कहा- कमरा दूसरा देखना। उसका कमरा खाली करना है कि बच्चे शोर मचाते हैं। बच्चे बदतमीज़ हैं। और पानी ज़्यादा खर्च करते हैं। हंसते कुछ ज़्यादा हैं। खेलते भी ऐसे हैं जैसे बाप का घर हो। हमारे पास एक फट्टा है। उनका भार उसका कमरा नहीं सह सकता, इसलिए हम उसे 'उसे' दें। और भी···गरज़ दोस्त क्या करना चाहिए ? कहाँ जाना चाहिए ? कोई आइडिया ? कोई तरक़ीब ! आखिर हम जा कहाँ सकते हैं ? कर क्या सकते हैं ? दोस्त ! ख़त लिखो। बात करो। गुरुदेव रवीन्द्र भी कहा करते थे···''बात करते रहना चाहिए। इसमें हर्ज नहीं··· न जाने किस बात में कब समाधान मिल जाए। न जाने किस रूप में कहां नारायण मिल जाए।''

ख़ैर ! कल 'नवरेह' है। मुझे इन गलियों में घूमना है। कमरा ढूंढना है।···इन्हीं गलियों ने राख कीना मन मेरा···क्या गली के नुक्कड़ पर खड़ा होकर अगर आँख बंद करूं तो घर की गली पर आँख नहीं खुल सकती ? कोई ऐसा···सबब··· बताना··· ज़रूर लिखना।

तुम्हारी

क्षमा..

■
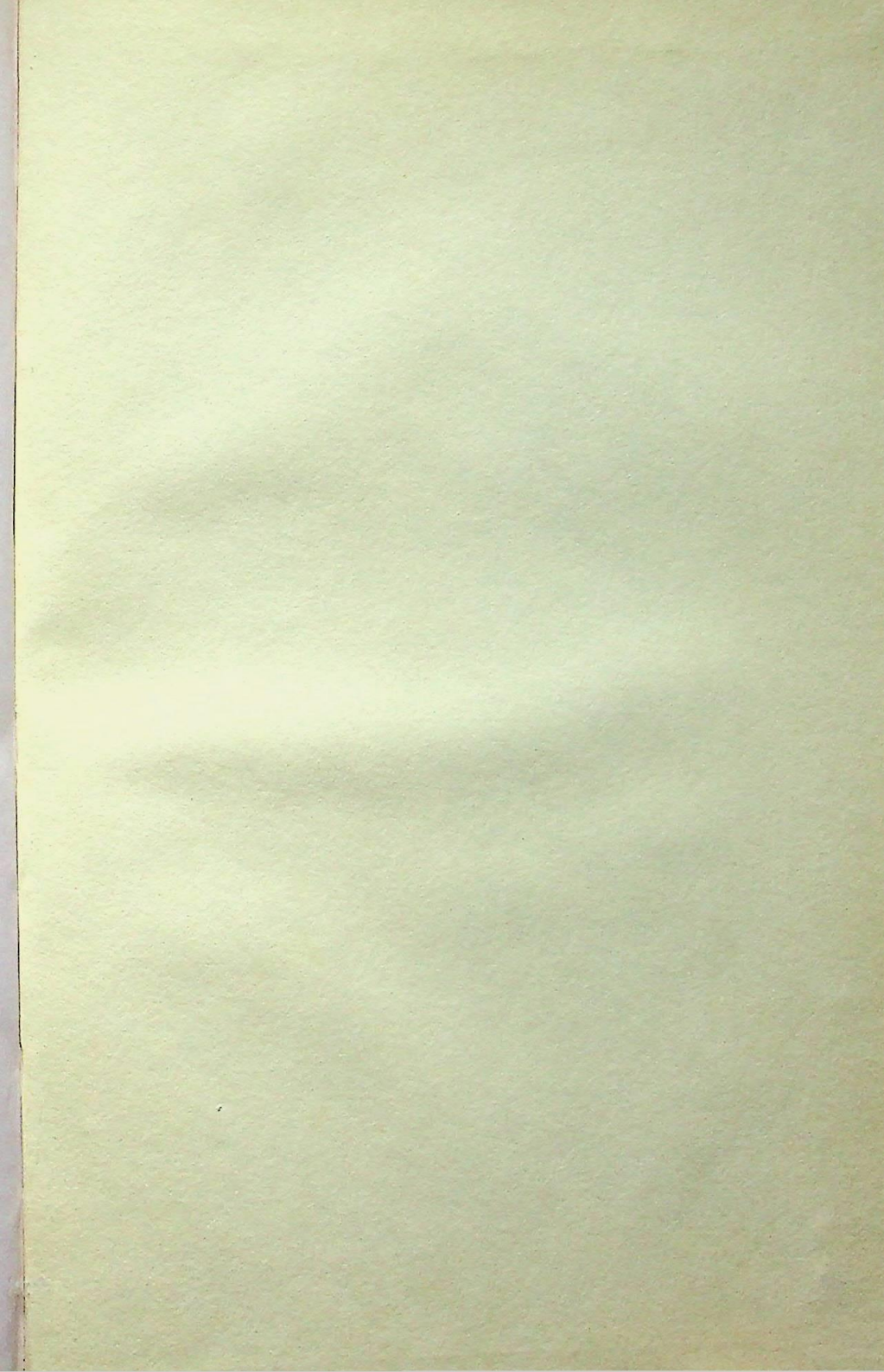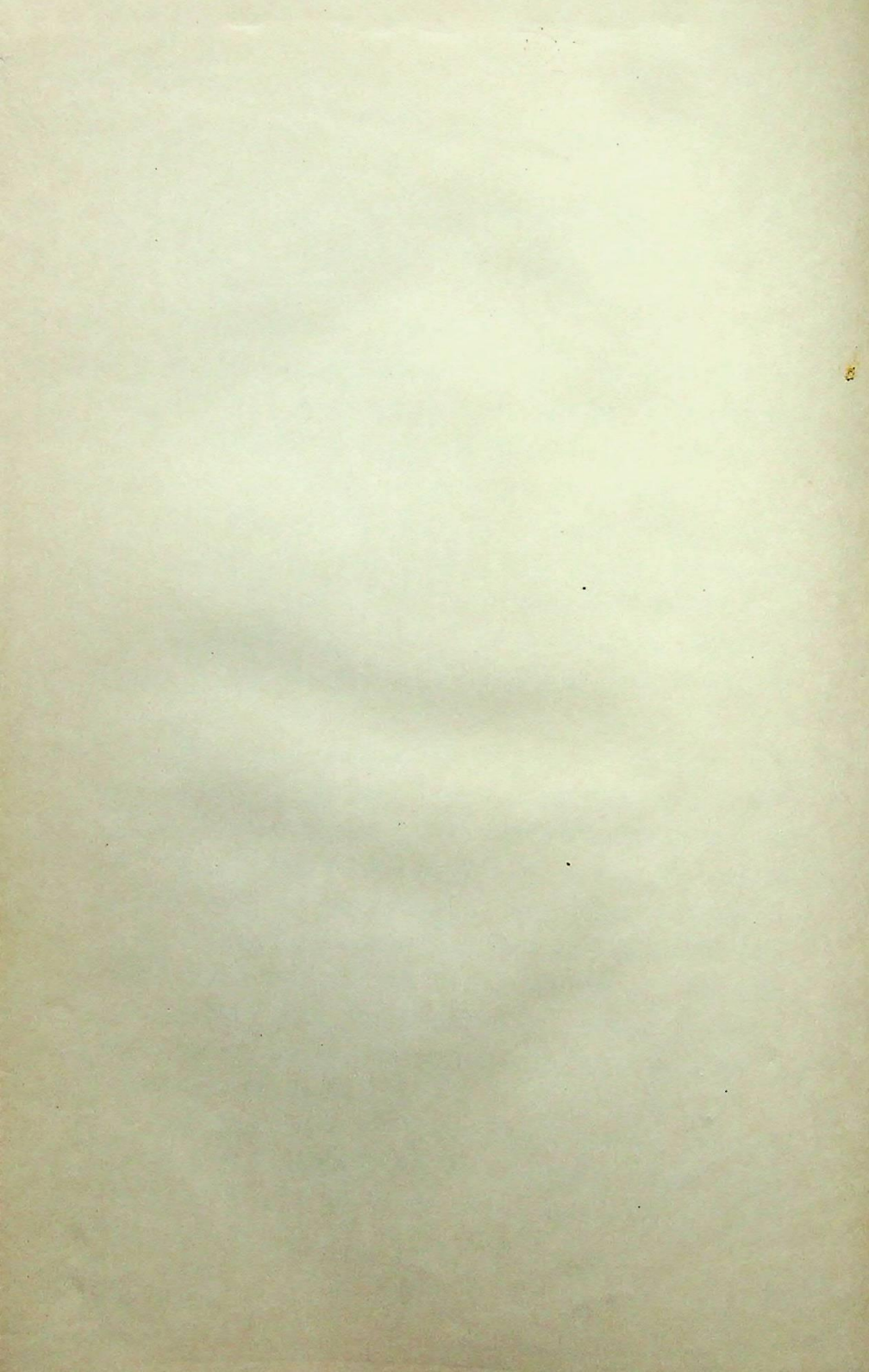
क्षमा कौल

एम. फिल., कश्मीर विश्वविद्यालय मे कवि धूमिल पर।

पी-एच. डी. पटना विश्वविद्यालय से युवा कविता पर।

देश की लगभग सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं, कहानियां, समीक्षा एवं अनुवाद प्रकाशित।

कुछ कविताओं का अंग्रेजी, बांग्ला और तेलुगु में अनुवाद।

संप्रति : मानब संसाधन विकास मंत्रालय की फैलोशिप के अंतर्गत कश्मीर की महान कवयित्री हब्बाखातून पर शोधरत।

सम्पर्क : आई. टी. आई. लिमिटेड, फ्लैट नं. २०१-२०२, रोहित हाउस, ३, टालस्टाय मार्ग, नई दिल्ली-१

पहले मुझे निकाला गया
घर से। फिर शहर से।
जहां शरण ली थी उस शहर से।
फिर जहां शरण ली थी
उस शहर से
खबर है निकाला जाएगा
मुझे इस शहर से।

जहां-जहां से निकाला गया
उगे मेरे फल
उगे पेड़ों में हुई
मेरी पैबंद।
मेरे पास है बीजों की गठरी
टिकाने को पीठ अब
रखी है बांध
मेरे सामने घूम रहा है ब्रह्माण्ड
घूमता - घूमता आएगा घर
गठरी खोलूंगी
कभी न बांधूंगी॥

क्षमा कौल